समकालीन हिंदी पत्रिकाओं में किसान जीवन के सवाल

(2000-2010)

THE QUESTION OF PEASANT LIFE IN CONTEMPORARY HINDI JOURNAL (2000-2010)

एम.फिल उपाधि हेतु लघु शोध प्रबंध

शोध निर्देशक

प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे

शोधार्थी

सुशील कुमार

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

2014

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Language
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Langauge, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated: 28 / 07 / 2014

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this M.Phil. Dissertation entitle **"SAMAKALIN HINDI PATRIKAON MEIN KISAN JIVAN KE SAVAL** (2000-2010) (THE QUESTION OF PEASANT LIFE IN CONTEMPORARY HINDI JOURNAL)(2000-2010)by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

Sushil. Kumar

SUSHIL KUMAR

(Research Scholar)

28/7/14

PROF. DEVENDRA KUAMR CHOUBEY

(Supervisor)

CIL/SLL&CS, JNU

NEW DELHI-110067

(Chairperson)

CIL/SLL&CS, JNU

NEW DELHI-110067

समर्पित....

किसान और मजदूर की मुक्ति के लिए संघर्षशील

क्रांतिकारियों के नाम.....

विषय सूची

भूमिका----------5-8

अध्याय 1. *किसान जीवन और हिंदी लेखन* ----------9-54

- उपनिवेश काल में किसानों की स्थिति----------10-13
- 1947 के बाद किसान जीवन----------13-23
- हिंदी साहित्य और किसान जीवन----------24-32
- किसान जीवन का स्वरुप----------33-41
- किसान जीवन की संरचना ----------42-50

अध्याय 2. *समकालीन हिंदी पत्रकारिता और किसान जीवन के सवाल*----------55-92

- समयांतर----------56-73
- हंस----------74-80
- फ़िलहाल----------80-88

अध्याय 3. *समकालीन पत्रिकाओं में किसान प्रतिरोध का सवाल*----------93-131

- किसान आंदोलन: एतिहासिक पृष्ठभूमि----------94-105
- किसान आंदोलन का संरचनात्मक ढांचा----------106-114
- किसान का प्रतिरोधात्मक स्वर----------115-127

उपसंहार----------132-136

सन्दर्भ ग्रथं----------137-141

परिशिष्ट----------142-145

भूमिका

हर समाज में उत्पीड़क और उत्पीड़ित वर्ग में संघर्ष होता है. सामान्यतः उत्पीड़ित वर्ग में संपत्ति और साधन विहीन एक वर्ग हर समय और हर समाज में रहता है. बाकी उत्पीड़क और उत्पीड़ित की संख्या में घटोत्तरी और बढ़ोत्तरी होती रहती है. पहले भारतीय समाज में गरीब मजदूर,किसान का शोषण ,उत्पीड़न,दमन, जुल्म, राजा-रजवाड़े, सामंत जमींदार और इनके, सेवादार कर्मचारी किया करते थे. इसके बाद अंग्रेजों ने इन देशी शोषक वर्ग के साथ मिलकर इसे और बढ़ा दिया.

समकालीन दौर में देशी-विदेशी पूंजीपतियों के साथ दलाल शासक वर्ग, सामन्ती संरचनाएँ किसानों पर उत्पीड़न, शोषण और जुल्म कर रही हैं. देशी पूँजीपति और सामंती संरचना मिलकर शोषण करेंगी, तो उसमें छोटे भूमिहीन, किसान, मजदूर इस शोषण, जुल्म, दमन को झेलेंगे. जब साम्राज्यवादी विदेशी पूँजी शोषण करेगी तो किसान, मजदूर, निम्न पूंजीपति आदि उत्पीड़तों की संख्या में इजाफा हो जायेगा.

साम्राज्यवादी पूंजीपति, दलाल शासक वर्ग, और बची-खुची सामन्ती सत्ता के साथ मिलकर औद्योगीक मजदूर, भूमिहीन किसान, का खुलकर पूंजीपति नीतिगत बैधता के साथ शोषण दमन कर रहा है. घाटे की खेती,बड़े निर्माण, वर्ण संकरता, सेज उत्खनन, खुदरा व्यापर, पर्यटन-पिकनिक, शहरीकरण, औद्योगीकरण और बड़े बांध निर्माण जैसी अनगिनत योजना के नाम पर लाखों हेक्टेयर खेती योग्य जमीन की एक एक छोटे पूंजीपति वर्ग द्वारा छिना-झपटी चल रही है. जमीन पर कब्जा जनकल्याण के सहारे हो रहा है. इस जनकल्याण की कीमत बहुसंख्यक जनता को तो उठाना ही पड़ेगा ; इसका लाभ छोटा सा वर्ग उठाता है.

जब संपत्ति और साधन की लूट की साजिश का पर्दाफाश हो जाता है तब यह वर्ग इसे समाज का विकास और देश हित के नाम से करने लगता है. इस विकास की कीमत उत्पीड़ित जनता चुकती है और

इसका फायदा पूंजीपति तथा उनके दलाल राजसत्ता के प्रतिनिधि उठाते हैं. आज भी जल-जंगल-जमीन और बुनियादी जनतांत्रिक अधिकार बचाने और छिनने का संघर्ष निरंतर जारी है. इस संघर्ष का अंत भविष्य की कोख में ही छिपा है. छिनने और बचाने में जिस वर्ग का पलड़ा भारी और तैयारी सूझ-बुझ वाली होगी, जीत उसी वर्ग की.

पहले अध्याय में किसान जीवन के क्या-क्या सवाल हैं? इस पर विचार किया गया है. इन सवालों की खोज ब्रिटिश कालीन राजसत्ता के स्थापित हो जाने के बाद से दिखाया गया है. किसानों की समस्यायों को हिंदी साहित्य में कैसे उठाया गया है? इनको साहित्य का विषय कब से और किसने बनाया? इस विषय के अध्ययन की कोशिश की गयी है . किसान जीवन के स्वरुप और संचरानाओं के सन्दर्भ में हंस (2000-2010) के बीच प्रकाशित कहानियोँ को लेकर विचार किया गया है. किसान जीवन की सामाजिक–आर्थिक और लैंगिक भेदभावपूर्ण जिन्दगी को ध्यान में रखकर विचार और विश्लेषण करने की कोशिश की गयी है.

दूसरे अध्याय में ऋण,सेज और नई आर्थिक नीतियों से किसान जीवन पर क्या प्रभाव पड़ रहा है? इन सन्दर्भों में किसान किन-किन नई पुरानी सामस्याओं का सामना कर रहे हैं? इन तीन इकाइयों के विश्लेषण के लिए (हँस,समयांतर,फ़िलहाल) पत्रिकाओं में (2000-2010) के महत्वपूर्ण लेख लेकर विश्लेषण करने की कोशिश की है.

तृतीय अध्याय में किसान आन्दोलन के इतिहास का अध्ययन करते हुए इनके प्रतिरोध के कारणों पर विचार करने की कोशिश गयी है. समकालीन दौर में किसान आन्दोलन का स्वर कैसा है? इसकी गहराई, सफलता और सार्थकता पर विचार करने की कोशिश की गई है. अधिकतर किसान आन्दोलन पर उत्पीड़क,शोषक सत्ता, दमन करने में सफल क्यों हो रही है? और कुछ एक महत्वपूर्ण आन्दोलन किसानों के पक्ष में सफल रहे है. ऐसे समय भारत सहित दुनियां के शक्तिशाली राज्यसत्ताएं बड़े साम्राजवादी पूजीपतियों के पक्ष में खुलकर सामने आ रही है औद्योगीकरण विकास और जनपक्ष के हित के नाम पर पूजीपतियों को खुली छूट,समर्थन और सैनिक मदद से लेकर हर स्तर की मदद दी जा रही है. जहाँ जो भी छिना-

झपटी,शोषण,दमन,जुल्म कर रहा है उनके हितैषी वर्ग राज्य उनके साथ हैं. इन उत्पीड़ित वर्ग के आन्दोलनों का भविष्य क्या होगा? इसकी बहुत सीमित परिकल्पना देने की कोशिश की गयी है.

मैंने अपने शोध के लिए यह समय (2000-2010) और इन पत्रिकाओं (हँस,समयांतर,फ़िलहाल) को चुना क्यों? इसके प्रमुख कारण ये है कि यह समय उदारीकरण अर्थव्यवस्था को लागू करने के दस वर्ष बाद का समय है. उदारीकरण सीधे-सीधे अर्थव्यवस्था से जुडी प्रक्रिया है इसका प्रभाव अन्य क्षेत्रों में भी होता है. समाज की संरचना की कोइ भी साखा अपने में स्वायत्त नहीं है इसलिए इस आर्थिक प्रक्रिया का प्रभाव समाज संस्कृति और राजनीति पर भी पड़ रहा है. यह उदारीकरण औद्योगिक और बाजार के संदर्भ में 'विशेष' छूट चाहता है. इसा विकास के लिए देश की सारी संरचनाओं का इस्तेमाल करना अपना अधिकार समझता है. उदारीकरण का कृषि अर्थव्यवस्था और किसानों पर जो प्रभाव पड़ रहा है यह इसी अधिकार का हिस्सा है. उसका इन (1991-2001) दस सालों में बखूबी देखा जा सकता है. दरअसल भारत जैसे औपनिविशिक विकासशील देशों को साम्राज्यवादी देशों का नया औपनिवेशिक बनाने की साजिश चल रही है.

साम्राज्यवादी औपनिवेशिक 20वीं शताब्दी जैसा प्रत्यक्ष रूप में नहीं दिखता है. पहले साम्राज्यवाद का गढ़ यूरोप हुआ करता था. आज यूरोप के साथ-साथ अमेरिका तक बढ़ा है. इसका नेतृत्त्व अमेरिका कर रहा है, साम्राज्यवादी देशों ने पुराने औपनिवेशों को ही दुबारा संरचनात्मक किया है. उनके हित और सारे कार्य नई पद्धति के साथ पूरे हो रहे हैं. इन कार्य और योजना में औपनिवेशिक देशों की चुनी हुई दलाल सरकारें गुलामी की मानसिकता और ढांचें से बाहर सोच एवं निकल नहीं पा रही हैं.

इन वर्षों में साम्राज्यवादी आर्थिक हमले से समाज पर क्या प्रभाव पड़. इनका ग्रामीण अर्थव्यवस्था कैसे मुकाबला कर रह रही है. इन नई आर्थिक संरचनाओं का प्रभाव 1991-2000 सालों तक खुलकर सामने आ गया. इस प्रभाव को साहित्य और पत्रिकारिता में कैसे उठाया जा रहा है? इसकी पड़ताल करने की योजना थी. इस योजना में कितना सफल हो पाया, यह तो मूल्यांकन से ही पता चलेगा.

यह (हंस, फिलहाल, समयांतर) तीन पत्रिकाएँ साहित्यिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक रूप से इन सवालों को उठाने में सक्षम लग रही थी. हंस में 1990 के बाद के ग्रामीण भारत की तस्वीर कहानिओं के माध्यम से देखी जा सकती है. इसी प्रकार सांस्कृतिक और राजनितिक बहस एवं प्रभाव 'समयांतर' और 'फिलहाल' में बखूबी देखा जा सकता है. ये पत्रिकाएँ अपने-अपने विषय की प्रतिनिधि लग रही है. उदारीकरण, भूमंडलीकरण, निजीकरण के प्रभाव को सम्पूर्णता में दिखाने वाली प्रमुख पत्रिकाएँ थीं इसलिए हमने इसका चुनाव किया है.

मैं अपने शोध-निर्देशक प्रो. देवेंद्र कुमार चौबे का विशेष आभारी हूं, जिन्होंने बड़े धैर्य पूर्वक मेरे शोध को निर्देशित करते हुए हर संभव मदद की . साथ ही उन तमाम मित्रों और शुभचिंतकों का आभार जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से इस शोध कार्य से जुड़े रहे और हर संभव मदद करने की कोशिश करते रहे .

1. **अध्याय एक: किसान जीवन और हिंदी लेखन**

- **उपनिवेश काल में किसानों की स्थिति**
- **1947 के बाद किसान जीवन**
- **हिंदी साहित्य और किसान जीवन**
  - उपन्यास
  - कहानी
  - कविता
- **किसान जीवन का स्वरुप**
  - जमीन
  - ऋण
  - आत्मसम्मान
- **किसान जीवन की संरचना: सामाजिक, आर्थिक, स्त्री (जेंडर)**
  - सामाजिक
  - आर्थिक
- **स्त्री**

1. उपनिवेश काल में किसानों की स्थिति

किसान जीवन सदियों से एक जैसा लगता है. कुछ बुनियादी सवाल वर्षों से अभी तक चले आ रहे हैं. ये सवाल अंग्रेजी राज व्यवस्था के स्थापित होने से और भी जटिल बन गए. अंग्रेजों से पहले भारत की अपनी भूमि व्यवस्था थी, जहाँ किसान खेती करते थे और कर के रूप में उपज का एक हिस्सा राजाओं को दे देते थे. अंग्रेजों से पहले की भूमि व्यवस्था के सन्दर्भ में हिंदी आलोचक महावीर प्रसाद द्विवेदी अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'संपत्तिशास्त्र' में लिखते हैं: "पुराने जमाने में, हिंदुस्तान में जमीन पर राजा का स्वामित्व न था. हर आदमी जमीन का मालिक था. राजा उससे सिर्फ उसकी जमीन की पैदावार का छट्ठा हिस्सा ले लिया करता था. बस राजा का सिर्फ इतना ही हक़ था. वह एक प्रकार का कर था, जमीन पर लगान नहीं."[1]

उस समय किसान ही जमीन का मालिक होता था. वह अपनी जमीन को बेचने, गिरवी रखने, का अधिकारी भी होता था. इस भूमि व्यवस्था में बदलाव अंग्रेजों ने किया था, अंग्रेजों द्वारा की गई भूमि व्यवस्था का मूल्यांकन करते हुए डाक्टर रामविलास शर्मा अपनी पुस्तक "महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण में लिखते हैं: "अंग्रेजों के आने से भारत के अर्थतंत्र में जो मौलिक परिवर्तन हुआ, वह यह था की सारी जमीन पर अंग्रेज सरकार का कब्ज़ा हो गया. जमीन पर इस तरह इजारा कायम करना पूँजीवाद की विशेषता नहीं है. पूँजीवाद की विशेषता यह है कि सभी माल की तरह जमीन भी बिकाऊ माल बन जाती है, खुली प्रतिद्वंदिता में जमीन बेचीं और खरीदी जाती है. पूँजीवाद की विशेषता यह है कि जमीन को व्यक्तिगत संपत्ति बनाना, न कि उस पर किसी का इजारा कायम करना. यह इजारा कायम करके अंग्रेजों ने सामंतवाद को जन्म दिया,

पूँजीवाद को नहीं. नए और पुराने सामंतवाद में फर्क यह था कि पहले जोतने वाले को बहुत से अधिकार प्राप्त थे, नए सामंतवाद में उसके ये अधिकार छिन गए. "[2]

अंग्रेज भारत में स्थाई और मजबूत शासन तंत्र बनाना चाहते थे. इस प्रक्रिया के लिए देश की जनता को अपने ऊपर आश्रित करना जरूरी था. उनकी जमीन पर मालिकाना हक़ खुद अपना करना था या अपने नजदीकी विश्वासपात्रों को जमीन का हक़ देना था. चूंकि अंग्रेज यहाँ व्यापर करने ही आए थे, इसलिए किसानो की स्थिति से उनको कोई मतलब नहीं था. प्रेमचंद ने इसी भूमि व्यवस्था को पहचानते हुए अपने उपन्यास प्रेमाश्रम में लिखा है "जब जमींदार की जमीन जोतते हो तो उसके हुक्म के बाहर नहीं जा सकते. "[3]

22 मार्च 1793 से स्थायी बंदोबस्थी व्यवस्था का प्रारंभ हुआ जिसके अनुसार जमींदार भूमि के स्थायी स्वामी मान लिए गए यदि वे प्रतिवर्ष एक निश्चित मालगुजारी राज्यकोष में जमा करे. इस व्यवस्था का हिंदी के आलोचक वीरेंद्र यादव अपने लेख "प्रेमचंद और भूमि समस्या" पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं "शासक और किसान के बीच जिस तीसरे का उल्लेख है; यह वह ताल्लुकेदारी-जमींदारी व्यवस्था थी, जिसकी वापसी 1857 की उथल पुथल के बाद अवध और सयुंक्त प्रांत के इलाकों में अंग्रेज सरकार द्वारा की गई थी. इसके पीछे भारत के तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग का वह सोच था, जो भारत में एक ऐसे बिचौलिये सम्रद्ध वर्ग को पालना पोसना चाहता था जो शासन सत्ता चलने में उसका मददगार हो. इस नई ताल्लुकेदारी जमींदारी व्यवस्था में किसान की स्थति लगान देने वाले रैय्यत की हो गई थी और तालुक्केदार भूस्वामी बन बैठा था. "[4]

अंग्रेजों द्वारा बनायी गयी स्थायी बंदोबस्थी भूमि व्यवस्था से एक बिचौलिया वर्ग भी पैदा हुआ. बल्कि उन्होंने एक बिचौलिये वर्ग का निर्माण किया जिसने अंततः किसानो को भूमि से बेदखल करने की भूमिका निभाई. इन बिचौलियों की भी कई श्रेणिया बन गई थी. "ज़मींदारी प्रथा की कोख से उपजे महज लगान की आमदनी पर निर्भर इस परजीवी वर्ग की संख्या अकेले संयुक्त प्रान्त में गैर कृषि आमदनी पर निर्भर कुल आबादी का 46 प्रतिशत थी." इनको गरीब मजदूर किसान से कुछ लेना देना नहीं था, इसी बात को प्रेमचंद कायाकल्प उपन्यास में लिखते हैं : "सियासत उनके भोग विलास का साधन मात्र थी, प्रजा को क्या

कष्ट होता है, उन पर कैसे अत्याचार होते हैं; सूखे झूरे की विपत्ति क्योंकर उनका सर्वनाश कर देती है, इन बातों की ओर कभी उनका ध्यान न जाता था. उन्हें जिस समय जितने धन की जरूरत हो, उतना तुरंत देना मैनेजर का काम था. वह ऋण लेकर दे, चोरी करे या प्रजा का गला काटे, इससे उन्हें कोई प्रयोजन ना था. "[5]

भूमि लगान की वसूलियत जब रूपए में की जाने लगी तो इसको चुकाने के लिए किसानो को कर्ज की आवश्यकता पड़ने लगी. फसल कितनी हुई है इससे लगान का कोई सम्बन्ध नहीं था. उन्हें पहले से तय की गई राशि या लगान चुकाना ही पड़ता था. कर ना चुका पाने पर उन्हें जमीन से बेदखल कर दिया जाता था. इस बेदखली से बचने के लिए किसान कर्ज लेने को मजबूर होने लगे. कर्ज देने वाले अंग्रेजी सरकार के मुलाजिम और जमींदार हुआ करते थे. यही लोग बाद में महाजन और सूदखोरी में रूपांतरित हो गए. सामाजिक रीति रिवाज और कर्मकांडों को पूरा करने के लिए भी किसान कर्ज पर ही निर्भर होने लगे. (टिप्पणी, देखें पृ.53) किसान पर बेहिसाब लगान, नजराना तथा बेदखली का खतरा ज्यों ज्यों मंडराता त्यों त्यों उसके कर्ज का बोझ बढ़ता जाता, फलस्वरूप किसानो की विशाल संख्या सूदखोरो से मिले ऋण पर गुजारा करती. ऋण के इस दुष्चक्र का परिणाम यह हुआ कि भूमि खेती करने वाले वास्तविक किसानो के हाथ से निकलकर, सूदखोरों के हाथ में चली जाती. किसान खेत मजदूर बन जाता या उस महाजन के खेतों को बटाई पर जोतने लगता.

किसानों की अन्य समस्या ये थी कि उनसे बेगार ली जाती थी. उनकी रशद सामग्री जैसे, मुर्गी, बकरा, घास तथा अन्य चीजें हाकिम, साहूकार, जमींदार व् अन्य छोटे कर्मचारी सत्ता का भय दिखाकर छीन लेते थे. किसानो के मना करने पर ज़मींदारों से लेकर हाकिम तक मार पीट करते हुए, उन पर जुर्म ढाहते थे. इन तमाम नीतियों और कुरीतियों की वजह से किसान लगातार पिसते रहते, पांडा पुरोहित इन जुल्म और शोषण भरी नीतियों को धर्मशास्त्रों और ईश्वर प्रदत्त बताते हुए जायज ठहराते. प्रेमचन्द इस व्यवस्था को किसानो पर दोहरे जुल्म बताते हैं . एक देशी सामन्तबाद और दूसरा अंग्रेज औपनिवेशिक शासन व्यवस्था . यहाँ की सामन्ती व्यवस्था के बारे में लिखते हुए कहते है ''अंग्रेज सरकार के पहले इनकी हैसियत दलालों की थी ,जो बादशाह की ओर से लगान वसूल करने के लिए रखे जाते थे और लगान अदा न क़र सकने पर

निकाल कर बाहर किए जाते थे और बड़ी ज़िल्लत के साथ अंग्रेजी राज्य में उनका मान बढ़ गया .''[7]ये मान आज़ादी के बाद और थोड़ा बहुत बदल कर आज भी जारी है.

1947 के बाद किसान जीवन

1947 में अंग्रेजों ने भारत के पूंजीपति और जमींदारों के हाथ में सत्ता सौंप दी थी जिसके परिणाम स्वरूप देश के बहुसंख्यक जनता के जीवन स्तर में कोई बदलाव नहीं आया. इसी बहुसंख्यक जनता में किसा भी शामिल हैं. जमीन के मालिकों ने कई तरह से कोशिश जारी रखी कि भूमिहीन मजदूर किसानों को भूमि पर मालिकाना हक न देना पड़े.

राजसत्ता और इसके बुद्धिजीवियों को ऐसी कौन सी बात लगी कि बहुसंख्यक किसानों, भूमिहीन मजदूरों को वह जमीन बांट दी जाएगी. जबकि आजादी के बाद भी पूरी तरह सत्ता उन्हीं ताकतवर जमींदारों के हाथों में रही, जितनें भी भूमिसुधार कानून बने सबका एक ही सा हाल रहा, झूठा आश्वसान और भ्रम एंव गरीबों को सपना दिखाना आदि. भूदान आंदोलन हो या बंटाईदार को मालिकाना हक देना जमींदार उन्मूलन कानून हो, सीलिंग एक्ट हो सबमें गरीब खेतीहर किसानों को कोई वास्तविक लाभ नहीं हुआ. इसके कारणों का अध्ययन इसी अध्याय में आगे किया गया है.

सत्ता हस्तांतरण से सामाजिक – आर्थिक संरचनाओं में कोई बड़ा फेरबदल नहीं हुआ जिससे किसानों के जीवन में भी कोई फेरबदल नहीं हुआ. जो कानून किसान हित में बनाए गए वे भ्रम साबित हुए. किसान को बुनियादी रूप से जमीन पर कानूनी हक नहीं मिल पाया. सूदखोर, पुरोहित, हाकिम और जंमीदार वैसे ही व्यवहार करते रहे जैसे अंग्रेज करते थे.

जमींदारी प्रथा के उन्मूलन का ऐलान किया गया लेकिन कानून के सैंद्धातिक पक्ष में इतनी गुंजाइश रखी गयी कि जमींदार अपनी जमीन बचाने में सफल रहे. ऐक्ट के ये पक्ष दृष्टव्य हैं:-

1) "परिवार के व्यस्क पुत्रों के लिए अलग से हदबंदी इकाई की व्यवस्था

2) संयुक्त परिवार के व्यक्तियों के लिए अलग हदबंदी इकाई की व्यवस्था

3) पांच सदस्यों से अधिक वाले परिवार को हदबंदी सीमा के लगभग दो गुने तक छूट

4) सरकारी साधनों से संचित भूमि हदबंदी सीमा से बाहर रखना

5) मंदिरों, उद्योगों, बगीचों, सहकारी फार्मों, शिक्षण संस्थाओं में, दानदाता संस्था आदि के नाम पर रियायतें

6) कुछ राज्य सरकारों का कार्यकारी जोतों के बजाय मालिकाना जोतों पर हदबंदी कानून लागू करना

7) पुरानी तिथियों पर भूमि का हस्तांतरण रोक पाने में राज्य सरकारों की असफलता आदि. "[8]

इन परिस्थितियों में भी जमीदारों ने अच्छी और उपजाऊ जमीन को अपने पास रखा. अलग –अलग ट्रस्ट बनवाकर जमीनें खुद को ही दान करवा ली. भूमि आबंटन के लिए कानून बना कि जमींदारों के पास केवल 14 एकड़ ही जमीन रहेगी. इस प्रक्रिया को 'विजय कांत' इंद्रजाल में लिखते हैं "कानूनन १४ एकड़ से ज्यादा जमीन किसी के नाम न थी. सीलिगं एक्ट से बचाव के लिए बाकी जमीनें भांजा, दामाद, अमला फैला के नाम फर्जी करा चुके थे वे कानून के घेरे से निकलने की हजार सुराखें कानून में ही मौजूद थी, उन्हें बस जरा फेंटे ढीले करने पड़े थे. ''[9] इन सबके बाद राज्यसत्ता के पास जमीन बचती है तो उसे भूमिहीनों में बांट दिया गया.

कुछ एक स्थानों पर सीलिंग एक्ट के तहत बीघा दो चार बीघा जमीन भूमिहीन मजदूरों के नाम आ भी गयी, लेकिन कागज पर, व्यवहारिक रूप से उनका कब्जा नहीं हो पाया. भूमिहीन किसानों के पास खेती करने के लिए जमीन नहीं होती थी इसलिए वह महाजनों और सामंतों पर ही निर्भर रहे. उन्हें कर्जा देकर बंधुआ बनाया, उनके खेत में उपजा अनाज अपनें घरों को ले गए.

सरकारी लोन किसान गरीबों के नाम पर लेकर खुद ही उपयोग किया. इन घटनाओं का वर्णन कहानीकार विजयकांत ने इंद्रजाल में किया है कि किस तरह धनेसर मिसिर अपने गांव के मुसहर जाति के फेकू, रघु, गोगन नरोत्तम का हितैसी बनकर सीलिंग एक्ट से मिलने वाली जमीन दिलवाने का स्वांग रचता है, उनका तारणहार देवता बन बैठता है. उन्हें कर्ज दिलवाकर खुद सुख भोगता है. उनके जमीन का उत्पादन भी नए- नए तरीके से खुद के पास ही रखता है. मजदूरों द्वारा अपने हक मांगे जाने पर उन्हें जेल भिजवा देता है और इसका दोषी भी उन्हें ही ठहराता है, बाद में उनकी मिली हुई जमीन भी नीलाम हो जाती है.

इसी प्रकार बंटाईदारी कानून 1961 में लाया गया. जहां देश में बंटाईदारी अधिकांश लोगों द्वारा करायी जाती थी, ऐसे समय में जब ऐसे कानून की बात जमींदारों ने सुनी तब बंटाईदार प्रक्रिया को कम भी किया गया जिसकी जितनी जोत थी और जितने मजदूर किसान थे क्या उतनी जमीन उन्हें मिली? जाने-माने समाज सुधारक विशेष के. वी. सक्सेना बंटाईदारी कानूनों की असफलता के कारणों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि "इन कानूनों का लाभ मुट्ठी भर बंटाईदारों को ही मिला. साठ के दशक तक केवल 30 लाख बंटाईदारों को 70 लाख एकड़ भूमि पर मालिकाना मिल पाया जो कि कुल कृषि योग्य भूमि के 2% दो प्रतिशत था. बंटाईदारी कानूनों के असफलता का एक कारण यह भी था कि मौखिक बंटाईदारी को सुरक्षा प्रदान नहीं की गयी थी और कुछ राज्यों में बंटाईदारी की परिभाषा भ्रामक थी." [10]

जमीदार अपने सेवकों पर खुश होकर या अपनी जरुरतों के लिए कुछ दासों को अपने आस –पास बसाते थे कुछ दासी शादी ब्याह में दहेज के रूप में आती थी उन्हें जमीदार अपनी भोग विलास की चीज समझकर भोगते थे. बाद में रहने खाने के लिए थोडी जमीन दे देते थे, जिससे उनके शरीर और श्रम को आगे भी भोगते रहें. इस तरह से पायी गयी जमीन का कोई कागजी रिकार्ड नहीं होता था. सेवकों में साहस नहीं होता था कि वह कागज पत्तर मांग सके. यह जमीन अधिकांश जगहों पर कागजी, परती, रेतीली और झाड़ वाली होती थी. मजदूर किसान इस पर कई वर्षों तक मेहनत करते और इसे उपजाऊ बनाते. जमीदारों की अगली पीड़ी को जब यह खबर लगी तब उन्होंने जमीन वापस छीन ली और तब तक भूमि संबंधी कानून

भी उस तरह के नहीं बचे थे, इसलिए मजबूर होकर जमीन वापस लौटानी पड़ी. व्यवहारिक स्तर पर जमींदार की अगली पीढि साधनों से मजबूत थी, लड़लडाकर जमीन वापस लेने में वह सफल हो गए. सैद्धांतिक स्तर पर अपने बाप दादाओं के पास मालिकाना हक के कागज दिखाकर कोर्ट कचहरी करके जमीन वापस ले ली, और जमीन मालिकों पर वह व्यमिचारिणी होने के लांछन लगा देते जबकि उन्हें ताकत के दम पर दासी बनाया गया होता. कोर्ट कचहरी हाकिम सभी इन्हीं जमीदारों के रक्षक थे.

राज्यसत्ता ने खेती योग्य और सुविधा संपन्न जमीन को चिन्हित किया, वहां कृषि में खादे, रासायनिक दवाएं महगें बीज और मशीनों का प्रयोग किया गया. जिसे हम हरित क्रांति के नाम से जानते हैं. इस क्रांति से अंचल विशेष में एकाएक उत्पादन बढ गया इस बढ़े हुए उत्पादन के लिए सरकार ने कोई सामुहिक वितरण का नियम नहीं बनाया जिससे कुछ बड़े जमींदारों और फर्टीलाइजर्स कंपनियों को ही लाभ प्राप्त हुआ. दूसरी तरफ भूदान आंदोलन भी जनचेतना को कुंद करने की ही साजिश थी क्योंकि सरकार ने जनता के आक्रोश को भापकर यह फैसला किया कि वह तथाकथित तौर पर जनता में भूमि बंटवाने की व्यवस्था कर रही है.

दूसरी तरफ खेतिहर मजदूर, छोटे किसान अलग अलग जगहों पर जुल्म शोषण के खिलाफ बोलना शुरु कर दिए. छोटे छोटे जगहों पर जनता में चेतना आने लगी. यह आजादी के बाद भी जारी रहा. तेलांगाना, नक्सलबाड़ी,एर्नाकुलम, भोजपुर आदि अनेकों जगहों पर किसान जागरुक होकर आंदोलित होने लगे थे. ये गरीब किसान जमीन में अपना हक मांगने लगे. इस व्यवहारिक मांग को कुचलने के लिए राजसत्ता तैयार खड़ी थी. और साथ ही साथ जमीन पर मालिकाना हक दिलवाने का स्वांग भी रच रही थी इसलिए व्यव्स्था संचालकों ने नए नए कानून बनाने शुरु कर दिए. जो सच में जनता को भ्रमाने के लिए ही थे.

यह सारी योजनाएं सरकार द्वारा चलाई गयी, जमींदारी उन्मूलन कानून हो या विनोबा भावे का भूदान आंदोलन हो या बंटाईदारी व्यवस्था स्थाई करना हो व हरित क्रांति ही क्यों न हो. इनका उद्देश्य ऊपर ऊपर से जानने और सुनने में अच्छा लगता है जबकि सच्चाई इसके अलावा होती है. गोया जब

जनचेतना आने लगती है, तब सरकार इस जनचेतना को रोकने के लिए अपने उद्देश्यों के तहत कुछ योजनाएं चलाती है और साथ ही साथ संघर्षशील जनता पर दमन भी करती है.

तब अधिकांश जनता जुल्म शोषण के खिलाफ सोचने लगती है. उन्हीं के बीच के कुछ एक संवेदनशील लोग पहलकदमी लेकर शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने लगते हैं. तब किसी भी शासकीय व्यवस्था में सिर्फ दमन के आधार पर संघर्ष को शांत करना मुश्किल होने लगता है. यह जन संघर्ष पहलकदमी लेने वालों के आसपास तक सीमित और स्थानीय बना रहे, इसकी पूरी कोशिश राजव्यवस्था द्वारा की जाती है. इन संघर्षों को सरकारें ताकत के साथ साथ नीति और रणनीति के माध्यम से विफल करना चाहती है. जनचेतना के अनुरूप राजव्यव्स्था शोषण और जुल्म के रूपों में बदलाव कर लेती है. किसानों के प्रति यह सरकारी योजनाएं इन्हीं रणनीति और जनचेतना के उभार का हिस्सा है. देश के कुछ भागों मे गरीब किसान जमींदारों से जमीन छीनकर आपस में व्यवस्थिति रूप से बंटवारा करने लगे, जिसे हम नक्सलबाड़ी आंदोलन के नाम से जानते हैं. इस आंदोलन का नेतृत्व भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी- लेनिनवादी) ने किया. इस पार्टी में खेतिहर मजदूर, भूमिहीन किसान और छोटे किसान बहुसंख्यक रूप में जुड़े थे.

इस आंदोलन का तात्कालिक कारण जमींदारों का असहनीय जुल्म और शोषण के खिलाफ संघर्ष था. संघर्ष में धीरे-धीरे 'जमीन पर जोतने वाले का हक जैसे नारे लगने लगे. जमींदारों से जमीन छीनकर किसानों में बांटी जाने लगी यहां से लाचार असहाय गरीब जनता को नई ऊर्जा मिलने लगी. किसानों को अपने हक अधिकारों और आत्मसम्मान के लिए एक नया रास्ता दिखाई देने लगा. संघर्ष का नया तरीका मिल गया. हजारों सालों की गुलामी, शोषण उत्पीड़न और जुल्म से मुक्ति दिखाई देने लगी. हर किसी को बराबरी का हक और दावे के साथ वास्तविक जनतांत्रिक समाज बनाने का सपना दिखने लगा. जहां सभी समान रूप से बराबर रहेंगे. इस बराबरी के दुश्मन जमींदार, सूदखोर, महाजन, प्रतिक्रियावादी दलाल शासकवर्ग, नौकरशाह और साम्रज्यवादी मशीनरी, इन सबके खिलाफ संघर्ष चल रहा था, और इसके साथ कम्युनिस्ट चोला पहने संशोधनवादी, अवसरवादी और अन्य जन दुशमनों के खिलाफ एक स्तर पर संघर्ष चल रहा था. इस क्रांतिकारी आंदोलन को जमींदार की सेना के साथ राजव्यवस्था ने फौजी दमन करके

हजारों क्रांतिकारी जनता की हत्या कर दी. यह आंदोलन पूरी तरह से कुचला नहीं जा सका. आज भी इतने भयंकर दमन के बावजूद उस परंपरा बचे क्रांतिकारी देश के अलग अलग भागों में संघर्ष जारी रखे हुए हैं. आज भी देश के किसानों को इस आंदोलन के सार्थकता और सफलता महसूस हो रही है.

किसान जीवन में बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में एक और बड़ी घटना घटी उसके प्रभाव दूरगामी साबित हो रहे हैं जिसे हम वैश्वीकरण, भूमंडलीकरण, उदारीकरण आदि नामों से जानते हैं. वैश्वीकरण में किसान, कृषि, गरीब खेतिहर मजदूर भूमिहीन और सीमांत किसानों को अनेक स्तर पर प्रभावित किया है.

वैश्वीकरण के समर्थक इस प्रभाव को सकारात्मक मानकर चलते हैं जबकि जनपक्षधर बुद्धिजीवि इसको नकारात्मक मानते हैं. वैश्वीकरण को दुनियां के विभिन्न विद्वानों ने अलग अलग तरह से परिभाषित किया है. "वैश्वीकरण का शाब्दिक अर्थ स्थानीय क्षेत्रीय वस्तुओं, घटनाओं के विश्व स्तर पर रूपांतरण की प्रक्रिया है. इसे एक ऐसी प्रक्रिया का वर्णन करने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है जिसके द्वारा पूरे विश्व के लोग मिलकर एक समाज बनाते हैं तथा एक साथ कार्य करते हैं. यह प्रक्रिया आर्थिक, तकनीकि, सामाजिक और राजनीतिक ताकतों का एक संयोजन है. ''[11] "वैश्वीकरण का उपयोग अक्सर आर्थिक वैश्वीकरण के संदर्भ में किया जाता है. अर्थात व्यापार, प्रत्यक्ष विदेश निवेश पूंजी प्रवाह, प्रवास और औधयोगिकी के प्रसार के माध्यम से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में एकीकरण.''[12] नॉम चामस्की का कहना है कि "सैद्धांतिक रूप से वैश्वीकरण शब्द का प्रयोग आर्थिक वैश्वीकरण के नवउदारवादी रूप का वर्णन करने में किया जाता है. ''[13]

"वैश्वीकरण तो एक शब्द है, कई महत्पूर्ण सन्दर्भों में एक भ्रामक शब्द, सीधे सीधे साम्राज्य कहना शायद ज्यादा सटीक होगा. किंतु कई मामलों में फिर भी भ्रामक ही. क्योंकि पहली बार हमारा सामना पूंजी के वैश्वीकृत साम्राज्य से हो राह है,जो इतिहास के साथ पूरी नग्नता के साथ उपस्थित हुआ है, और अमरीका इसमें वित्तीय स्तर पर, सैन्य स्तर पर तथा विचारधारा स्तर पर प्रभुत्वशाली भूमिका में है". [14]

वैश्वीकरण ने मजबूत अर्थव्यवस्था वाले देशों को फायदा पहुंचाया है उन्हीं को बाजार, कच्चा माल और श्रम फला है. बाकी देशों की स्थिति दयनीय हुई है. इस वैश्वीकरण से हमारे देश की कृषि अर्थव्यवस्था चौपट हो रही है और कृषक लाचार और मरने को मजबूर है. भारतीय कृषि से संबंधित कई संधियों पर हस्ताक्षर किये गए. हमारे देश में कृषि उत्पादन से संबंधित सामंग्री, कृषि में पूंजी निवेश, खाद्य पदार्थ व अन्य कृषि उत्पाद के आयात पर खुली छूट ले ली है. "भारत पर दबाव डाला गया कि एक अप्रैल 2001 तक वह कृषि आधारित वस्तुओं और उत्पादों पर मात्रात्मक प्रतिबंध को या तो हटा दे या फिर समाप्त कर दे. इसलिए भारत ने अपने बाजार खोल दिये, और इसके बदले में कृषक समाज को बहुत ज्यादा सब्सिडी प्राप्त उत्पादों के आयात के आगे निस्सहाय छोड़ दिया है.''[15] भारत जैसे विकासशील देश ने कृषि उत्पाद नियति के लिए जो समझौता किया है उन्हें शक्तिशाली देशों ने नहीं माना. इन विकासित देशों ने अपने यहां आयात शुल्क की ऊंची दर कम नहीं की, इसलिए भारत की निर्यात मात्रा में कुछ खास फर्क नहीं आया.

भारत को अपने किसानों को कितनी और कैसी सब्सिडी देनी है यह सब डब्लू. टी. ओ. में तय होने लगा है. "भारतीय किसानों की सारी सब्सिडी निवेशकों के जरिए है जबकि विकसित किसानों की सब्सिडी का बहुत बड़ा हिस्सा सीधे खेती में मदद के तौर पर है. ''[16] हाल में ही कुछ समझौते हुए जिसने किसानों का संकट बड़ा दिया है.

कृषि में उत्पादन लागत में भयानक बढ़ोतरी दर्ज की गयी है, जिसका कारण वैश्वीकरण है. उत्पादन लागत सामग्री बनाने वाली विदेशी कंपनियां निवेश करके बेतहाशा मुनाफा कमा रहीं हैं. जिनका पूरा साथ देती हैं देशी विदेशी सरकारें. इसकी कीमत मेहनतकश किसान चुका रहा है. "बीजों का पेटेंट करना शुरु कर दिया. परंपरागत बीज की लाखों प्रजातियां मौजूद थी, भारत में दो लाख से अधिक धान की किस्में थी. इन देशी किस्मों में बाढ़ और सूखे का सामना करने. पहाड़ों तथा समुद्रीय तटीय क्षेत्रों में पैदा होने की क्षमता के साथ ही साथ खाद की विविधता का आंनद और चिकित्सीय गुण भी थे. "[17]

इन बीजों की प्रजातियों पर काम के नाम पर किसानों की खोज और ज्ञान को चुराने के साथ-साथ व्यापार के लिए पेटेंट कर लेती है. जो विशेषताएं बताते हैं वह नई नहीं होती हैं. इसी तरह एक

अमरीकी कंपनी ने वासमती पर अपना पेटेंट कर लिया. "राइस टेक द्वारा पेटेंट वासमती की किस्म भारतीय किस्म की अर्ध बौनी धान की किस्मों जिसमें इंडिका की किस्में भी शामिल हैं; से शंकर करके विकसित की गयी थी. यह किस्में किसानों की किस्में हैं जिन्हें भारतीय उपमहादीप में हजारों वर्षों में विकसित किया गया है. राइस टेक की वासमती के मामले में विभिन्न अर्ध बौनी प्रजातियों को शंकर करने की विधि नई नहीं है यह बहुत ही सामान्य विधि है. जिसे संकरण की जानकारी रखने वाला हर आदमी जानता है, इस पर भी अमेरिकी पेटेंट और ट्रेड मार्क कार्यालय ने राइस टेक द्वारा विकसित कथित वासमती करते हुए पेटेंट दे दिया कि राइस टेक की वासमती और इसका प्रजनन नया है. जिसमें कि बेहतर किस्म की वासमती के समान या उससे भी अच्छे गुण हैं.

पेटेंट ऐसे ओद्योगिक आविष्कारों को दिए जाते हैं, जो स्पष्टत: अनूठे होते हैं. फिर भी पेटेंट ने वासमती चावल की जिस खुशबू को नया होने का दावा किया वह नया नहीं है... "वास्तव में राइस टेक का पेटेंट नकल को रचना और चोरी को आविष्कार मान रहा है. अमेरेकी पेटेंट कार्यालय ने अविष्कार को नहीं बल्कि जैव संपदा की लूट को संरक्षण दिया है. "[18] इस तरह बीज के पेटेंट होने लगे, ये बीज पर एकाधिकार करके बहुत ही महगें बेचने लगे. "विदर्भ में जो कपास के पारंपरिक बीज सात रुपए प्रति किलो बिका करते थे उनके स्थान पर मोंसेरो के जैव प्रोद्योगीकृत बीजों का दाम सत्तरह हजार रुपए प्रति किलो हो गया."[19]

इन बीजों के प्रयोग के बाद पंरपरागत खेती साधनों से खेती करना संभव नहीं हो रहा है. भारी मात्रा में पानी कीटनाशक और खाद की जरूरत पड़ने लगी. कीटनाशक, उर्वरक आदि देशी विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियां मिलकर बनाती हैं. इन बीजों के लिए मशीन की जरूरत पड़ने लगी, बैल की जगह ट्रैक्टर व अन्य मशीने प्रयोग होने लगी, इन मशीनों का खर्चा काफी बढ़ने लगा, सिचांई करने के लिए पंप और उसमें प्रयोग होने वाला डीजल भी महंगा होता जा रहा है. महंगे साधनों सामग्रियों ने बड़ी बड़ी कंपनियों के मलिकों को बहुत फायदा पहुंचाया. भारतीय किसानों ने इसकी बहुत बड़ी कीमत चुकाई है. यहां तक की उन्हें अपनी जान भी देनी पड़ रही है.

उधर उत्पादन कीमत बहुत धीमे से बड़ रही है "धान की खरीद मूल्य 2001-2002, के बाद 4% सालाना से ज्यादा नहीं बढ़ा और गेंहूं की कीमत भी अधिकतम 2% सालाना की दर से बढ़ी है. तथाकथित वाणिजिक फसलों के मामले में कीमतों की गिरावट और भी तेज होती है. गोल मिर्च का मूल्य 1997 से 27,000 रुपए प्रति क्विंटल से गिरते –गिरते 2007 में 54. 00 रुपए प्रति क्विंटल रह गयी है. काफी की कीमत तो एक समय में 30-40 रुपए प्रति किलोग्राम हो गयी थी. अच्छी किस्म की इलाइची की कीमत में 75 % की गिरावट आयी"[20]

इस व्यवस्था से कृषि लागत बहुत ज्यादा बढ़ गयी. उत्पादन को सही कीमत नहीं मिलती है, जिससे किसानों की आमदनी भी नहीं बढती है. इस कारण से कर्जा और ब्याज बढ़ता जा रहा है. किसानों को ज्यादा कर्जा लेने के लिए नकदी फसलों ने उकसाया. वैश्वीकरण में इन फसलों के खरीदार कुछ कंपनियां ही बची. किसानों को मजबूर होकर उन्हें ही उत्पाद बेचना पड़ता है. खरीदने के लिए बिचौलिए आते जो अपना कमीशन किसानों से ही लेते. मध्यम छोटे किसान फसल को ज्यादा समय तक रोक नहीं सकते क्योंकि उनके जीवन का गुजारा फसल बेचकर ही होता है. "1996 में विश्व व्यापार संगठन के तहत कृषि के बारे में समझौतों पर हस्ताक्षर हुए. इसके बाद कच्चे कपास की मांग पूरी दुनियां में बढ़ गयी है. जहां सत्ता मिल रहा था वहीं खरीदारी ज्यादा हुई. हमारे यहां का निर्यात उछलकर 3,74,000 टन हो गया. पहले के तीन वर्षों की तुलना में 10 गुना ज्यादा था. ऊंची कीमत देखकर अनेक किसान कपास पैदा करने की सोचने लगे. अच्छी कीमत पाकर किसानों ने महंगी दर पर पैसा ब्याज पर लेना शुरु कर दिया जिससे उत्पादन की ऊंची लागत को पूरा कर सके, लेकिन कुछ समय बाद अंतरराष्ट्रीय कीमतें गिरने लगी. 2001 के आते-आते कपास की कीमतें 1995 की कीमतों की आधी हो गयी."[21]

किसान दो मुसीबतों से घिर चुके थे. एक कपास सही कीमत पर नहीं बेच पाए, कर्ज नहीं चुका पा पाए. दूसरा उनके भोजन का संकट पैदा हो गया जीवन की अन्य समस्याएं साथ ही चल रही थी. किसानों के लिए वैश्वीकरण इतना दुष्प्रभावी हुआ कि महाराष्ट्र के विदर्भ, आंध्रप्रदेश के तेलंगाना, गुजरात के सौराष्ट्र में अनेकों किसानों ने आत्महत्या करने को मजबूर हुए.

TH 24191

वैश्वीकरण की संरचना से भारत में तमाम कृषि से संबधित उत्पाद आयात होने लगे, जिसने यहां के उत्पाद को बहुत ही सस्ता कर दिया. यह यहां के किसानों के लिए 'घोषित मृत्यु' साबित रही है. देश के कई हिस्सों में किसानों ने खेती बाड़ी छोड़ दी, जिसका फायदा वैश्वीकरण के हिमायती देशों को मिला. वे अपने यहां खेती में बेतहाशा मदद करके खेती को उद्योग के रूप में भुनाते हुए भारत में अपनी उपज बेचने लगे. यहां प्रतिस्पर्धा भी नहीं मिली जो वैश्वीकरण ने ही खत्म की है.

वैश्वीकरण से केरल राज्य पर क्या प्रभाव पड़ा. केरल की अर्थव्यवस्था पर एक नजर डालने पर पता चलता है कि पहले कुछ सालों से आर्थिक उदारीकरण वैश्वीकरण ने केरल की अर्थव्यवस्था चौपट कर दी. "सस्ते और बहुत ज्यादा सब्सिडीयुक्त कृषि आधारित वस्तुओं के आयात से चाय, नारियल के तेल मसाले की कीमत औंधे मुंह गिर गयी. नारियल की कीमत 8 रुपए से 2 रुपए हो गयी. रबर की कीमत 60 रुपए से 16 रुपए तथा काफी का मूल्य 1999 लुढ़ककर 58 रुपए से 30 रुपए हो"[22].

चाय बागान भी बहुत ज्यादा प्रभावित हुआ, "दस लाख से अधिक लोग अपनी आजीविका के लिए चाय बागानों पर निर्भर हैं, प्रसिद्ध चाय उगाने के लिए जाने-माने शहर पारिमादे तालुके में चाय की 18 फैक्ट्रियां बंद हो गयी और अन्य 13 चाय बागानों को उनके मालिकों ने छोड़ दिया. जिसकी वजह से अकेले ऊंचे स्थानों में ही करीब तीस हजार लोग बेरोजगार हो गये. "[23] जब तक यह दौर नहीं आए थे तब तक केरल के बागानों को अच्छी खासी विदेशी मुद्रा अर्जित होती रही और और बढ़िया बाजार उपलब्ध रहता था. "भारत कुल 95 करोड़ टन चाय का निर्यात करता था"[24] अब ऐसी स्थिति नही रही. इन वस्तुओं के निर्यात से अर्जित धनराशी और निर्यात वस्तुओं की मात्राओं में कमी आ रही है.

वैश्वीकरण के दबाव में विकासशील देशों की सरकारें कृषि कर्जा और सब्सिडी में कटौती कर रही है. भारत जैसे देश में पहले ही सांस्थानिक कर्जों की भारी किल्लत चल रही है. जो कर्जा किसानों को दिया जाता है उसका फायदा 10 एकड़ से बड़े किसान ही उठाते हैं. वह कर्जा लेकर कुछ छोटे किसानों को सूद पर देते हैं. बिना जमीन वाले किसान तो बैंक से कर्जा ही नहीं ले सकते, भूमिहीन किसान किराए पर जमीन ले भी लेता है, पर उन्हें इस पर सरकारी कर्ज नहीं मिलता है. वे मजबूर होकर सूदखोर से बड़ी दर पर

पैसा लेते हैं. वे मेहनत करने के बावजूद न पेटभरकर भोजन कर पाते हैं और न ही कर्जा चुका पाते हैं. सरकारी बैंको की ब्याज दर समय पर चुकता करने वाले के लिए सस्ती है, पर यह किसान समय पर पैसा लौटा नहीं सकते समय पर कर्ज संपन्न किसान ही लौटा सकता है. अब यह संस्थागत कर्ज जिसे मिल रहा है उसे भी निराशा हाथ लग रही हैं, संस्थागत कर्जा कुल कृषि कर्ज का बमुश्किल से 40 % होता है.

वैश्वीकरण, उदारीकरण और नरसिहंम कमिटी की अनुसंशाओं ने बैंकों को प्राथमिक क्षेत्र खासकर कृषि क्षेत्र को कर्जा देने में कटौती करने को बाध्य किया है. "1990 के दशक में अनूसूचित वाणीजिक ग्रामीण शाखाओं की संख्या में अत्यधिक गिरावट दिखाई पड़ी क्योंकि घाटा उठाने वाली बहुतेरी शाखाओं को बंद कर दिया गया. 1995 में इनकी कुल संख्या 33,017 ग्रामीण शाखाएं थी, जो 2004 में सिर्फ 32080 रह गयी... अनूसूचित वाणिज्यिक बैंकों में कृषि कर्जा खातों की संख्या भी निरपेक्ष रूप से कम हो गयी जो मार्च 1992 में 227. 4 लाख से घटकर 2003 में 208. 4 लाख रह गयी थी.''[25]

पहले सरकारी कर्ज सीमित संख्या में छोटे से समूह को ही मिलता था. वैश्वीकरण से उसमें भी कटौती होने लगी. सेज कानून लाकर किसानों की जमीन का अधिग्रहण किया जा सकता है. किसान जमीन बेचना चाहे या न चाहे, मुआवजा एक कमटी तय करेगी, मुआवजे से संतुष्ट होना न होना कोई मायनें नहीं रखता. यह जमीन किसानों से 'विकास और औधोगिक कार्य' के लिए ली जाती है. जमीन लेने के बाद इसे कई गुना दामों में बेचा जा रहा है. थोड़ा संशोधन करके 'भूमि अधिग्रहण बिल' पास किया गया है, जिसमें किसान की मर्जी भी शामिल है परंतु 'देश के विकास' के नाम पर किसान को मजबूर करके सरकार जमीन अधिग्रहण कर सकती है. सरकार, वैश्वीकरण के लिए उदार और किसान मजदूरों के लिए कठोर होती जा रही है. "आज भी 68. 84% ऐसी ग्रामीण जनसंख्या है. जिसमें 40% किसान भूमिहीन हैं."[26] जिसका गुजारा कृषि से होता है. कृषि की हालत बहुत ख़राब है जिससे बेरोजगारी बढ़ रही है. कृषि से भरपेट खाना भी मयस्सर नहीं हो रहा है. यह कहां जाएं? क्या करें? यह सवाल हम सबके सामने मौजूद है.

हिंदी साहित्य और किसान जीवन

उपन्यास

हिंदी कथा लेखन में किसान समस्या को प्रेमचंद लेकर आए, हालांकि प्रेमचंद हिंदी भाषा में लेखन से पहले उर्दू में लिख रहे थे, प्रेमचंद ने अपने साहित्य के विषय के रूप में गांव का चयन किया, गांव में किसानों के शोषण उत्पीड़न को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया. किसानों का शोषण किनके द्वारा होता है? कितने तरह के जुल्म-शोषण हो सकता है, यह सब कुछ वह अपने उपन्यास **"प्रेमाश्रम"** में चित्रित कर सके हैं. किसान जीवन से संबंधित उनका अंतर्विरोध जमींदारों से दिखाया गया है. साथ ही साथ सरकारी मुलाजिम इनकी हड्डियों से बेगार लेते हैं. इस प्रकार इन्होंने दिखाया है कि जब जमींदार सत्ता से किसानों को बढ़त मिलती है, तो अंग्रेजी हुकूमत जमींदार को बचाने के लिए और किसानों पर जुल्म ढाने के लिए फौज भेज देती हैं. किसानों पर शोषण और जुल्म भले ही जमींदार और उनके कारिंदे करते हैं लेकिन यह सब सरकार की संरक्षण और देखरेख में होता है.

प्रेमचंद दिखाते हैं कि किसानों को अपने हकों के लिए खुद ही लड़ना पड़ेगा, दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास **'रंगभूमि'** है, जहां इस उपन्यास के केंद्र में औद्योगीकरण के लिए किसानों की जमीन अधिग्रहण करनी हैं जिसके लिए देशी हुक्मरान और विदेशी सरकार एक मत थी, जहां किसानों का शोषण करना है, उनका हक छीनना है वहां पर निर्विवाद हो जाती है. यहां का इससे पूंजीवादी विकास सामंती संरचनाओं के सहारे हो रहा है. पूंजीवादी और सामंतवादी दोनों सरंचनाओं का हित पूरा हो रहा था.

पूंजीवादी संरचनाओं को कच्चा माल, जमीन, श्रम बाजार चाहिए. ये सब यहां के जमीदार एवं सामंती रुतबा रखने वाले लोग मुहैया करा देते हैं. सांमती जमींदार को भोग विलास के प्रसाधन, रुतबा, बिना श्रम किए अय्यासी सुनिश्चित रहे, यह यहां की पूंजीवादी संरचना सुनिश्चित करती हैं. इसलिए दोंनों का अपने हितों के लिए घोषित और अघोषित समझौता हो जाता है. प्रेमचंद का यह उपन्यास आज के संदर्भ में

भी प्रासंगिक लगता है. इस उपन्यास में संघर्ष के रूप में हार-जीत सब आज की लगती है. प्रेमचंद की दृष्टि और कल्पना को इस उपन्यास के सहारे बखूबी पहचाना जा सकता है.

'कर्मभूमि' उपन्यास में भी प्रेमचंद ने किसान और जमींदार के अंतर्विरोध को संघर्ष के रूप में दिखाया है. ये अंतर्विरोध धीरे-धीरे संघर्ष में बदल जाता है. क्षेत्र में भयंकर सूखा पड़ा. किसानों की फसल बरबाद हो गयी. पर लगान में सरकार और जमींदार की तरफ से कोई छूट नहीं मिली. अब गांव के किसान जमींदार के पास जाते हैं. पहले तो मुलाकात नहीं होती, जब किसान मिलते हैं तब जमीन लगान माफी से जमींदार इंकार कर देता है. किसान भूखों मर रहे हैं, पर जमींदारों के महलों में खूब रबड़ी, घी की पूड़ी, मेवा और मिष्ठान बन रहे हैं. सब मालिक खा-खा के मोटे हुए जा रहे है. उनके अय्यासी में कोई कमी नहीं आयी है. किसान अपने गांव वापस आकर पहले से संगठित किसानों को जमींदार से हुई बातचीत के बारे में बताते हैं, उत्पीड़न न सहने का प्रण लेते हैं. संघर्ष शुरु होता है. सभी आयुवर्ग के लोग शामिल होते हैं. प्रेमंचद का मानना है किसानों की मुक्ति संघर्ष से ही संभव है, यह वह हर रचना में सुनिश्चित करते हैं वह उस उपन्यास में अमरकांत के माध्यम से स्वतंत्रता संघर्ष को और किसान संघर्ष को एक साथ खड़े होने और लड़ने का रास्ता बताते हैं, तभी असली मुक्ति मिलेगी जब किसान, जमींदारों और अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ संघर्ष चलाएं. सामंतवाद, अंग्रेजी साम्रज्यवाद दोनों की गुलामी से छुटकारा चाहिए.

प्रेमचंद, इस शोषण तंत्र के अंत: संबंध को अच्छी तरह से समझते थे. इस शोषणतंत्र को सुधारने की नहीं बल्कि वह बदलने का आव्हान करते हैं. शहरों में मजदूर संघर्ष और गांव में जमींदार के खिलाफ संगठित किसान संघर्ष, मंदिर प्रवेश आंदोलन (अस्पृश्यता विरोधी आंदोलन) स्त्री आंदोलन इन सारे आंदोलनों को जोड़ते हुए मुक्ति की राह दिखाते हैं. गांव और शहर में भी सभी लोग सभी तरह के संघर्ष एक दूसरे के साथ मिलकर लड़ें. प्रेमचंद साम्रज्यवाद और सामंतवाद को उखाड़कर फेंकने की बात करते हैं. ऐसा नहीं है कि जमींदार अपने हित के लिए साम्रज्यवाद से लड़े और किसान जमींदार से लड़े, इससे वास्तविक आजादी नहीं मिलेगी. अमंरकांत के माध्यम से राष्ट्रीय आंदोलन के साथ साथ वर्ग एंव वर्ण के आंदोलन भी चलाया जाय, वह भी एक ही नेतृत्व के माध्यम से. आंदोलन का तरीका और विचार भले ही भिन्न हो

लेकिन सांमतवाद और साम्रज्यवाद से मुक्ति अवश्य मिले. इसी मुक्ति को वह अपने उपन्यास कर्मभूमि में दिखा रहे हैं, जहां एक तरह शहर में साम्रज्यवादी उद्योग से मजदूर अजाद होते दिख रहे हैं वहीं दूसरी ओर गांव में जमींदार रूपी शोषण से किसान मुक्त हो रहे हैं. इन दोनों तरह की मुक्ति का आपस में अंत: संबंध है. सारे संघर्षशील नेता एक होकर जनता को इन तमाम तरह की बेड़ियों से मुक्ति दिलाते हुए दिखते हैं. लेकिन प्रेमंचद का 1932 में देखा गया सपना कब पूरा होगा. यह सपना अब प्रेमचंद का न होकर सारे मेहनतकश जनता का हो गया है.

प्रेमचंद अपने निबंध प्रसंग में इस यथार्थवादी शोषण पर लिखते हैं "भारत सरकार स्वयं इतना कर्जा ले रही है, यह कहना अनुचित होगा कि लोगों की सहानुभूति स्वाभाविक है... आज भारत के किसान इतने तबाह क्यों है? इसलिए जब से अंग्रेजी शासन शुरु हुआ है यानि आज से डेढ़ सौ साल पहले से विदेशी हुकूमत ने हमेशा किसानों के हितों की उपेक्षा की है और जमींदारों के हितों का समर्थन किया. अन्य प्रांत की बात छोड़ दीजिए संयुक्त प्रांत की दशा देख लीजिए. शायद ही किसी प्रांत में जमींदार तालुकेदार इतनी मनमानी कर सकते हैं. किसानों के कष्ट की कहानी इन डेढ़ सौ सालों के अंग्रेजी शासन में ज्यों का त्यों जारी है. मुक्त प्रांतीय कौंसिल ने यदि कभी भी इन अभागों की सहायता करनी चाही तो प्रांत के तालुकेदार और कौंसिल ने जनमत को सदैव कुचल दिया. हमारे प्रांत का यह विश्वास सा रहा है कि यहां के तालुकेदारों जमींदारों के लिए शासन होता है. अब भी प्रांत में एक 'राज्य परिषद' कर सरकार ने इस शंका को और मजबूत कर दिया है."[27]

"**गोदान**" उपन्यास एक यथार्थवादी उपन्यास है, प्रेमचंद ने इसमें किसानो मजदूर बनते दिखाया है. इसमें वह जमींदारों द्वारा किसानों के शोषण के साथ साहूकारों और महाजनी सभ्यता का नग्न चरित्र दिखाते हैं. यह सूदखोर किस तरह से मजदूर किसान की मेहनत का दोहन करते हैं, इसके अतिरिक्त धर्म और अर्धमूलक और रुढ़िवादी होकर किसानों का शोषण करता है. इन रंग बिरगें शोषण और अत्याचार किसानों की दिनचर्या में शामिल होकर उन्हें मजदूर बनने के लिए मजबूर करते हैं और उनकी हत्या भी कर देते हैं. होरी इसका जीवित प्रमाण बन चुका है.

साहित्य में बहुत सारे साहित्यकारों ने किसान जीवन के बारे में महत्वपूर्ण रचनाएं की हैं जिनकी चर्चा आवश्यक जान पड़ती है. 'जगदीश झा विमल ने' किसान जीवन से संबंधित दो उपन्यास लिखे, पहला 'खरा सोना' (1921). इस उपन्यास में किसानों पर जमींदारों के अत्याचार मिल मालिकों और मजदूरों के संघर्ष तथा मजदूरों की हड़ताल अंग्रेजों के विरुद्ध जनता का आक्रोश आदि का चित्रण किया गया है. इस प्रकार 'दूसरा उपन्यास 'गरीब' 1941 में आया. इसमें जमींदार द्वारा निर्धन किसानों का शोषण, उनको जमीन से बेदखल और उनकी महिलाओं का जबरन शोषण, इन क्रियाओं में पुलिस व्यवस्था जमीदारों का ही साथ देती हैं, इस उपन्यास में कथा शिल्प और सर्जनात्मक भाषा के अभाव के कारण इसका साहित्यिक महत्व कम है.

'सूर्यकांत त्रिपाठी निराला' ने अप्सरा, अलका, बिल्लेरसुर बकरिया और चोटी की पकड़ उपन्यासों में किसान जीवन के सवाल उठाया है. उन्होंने 'सुधा पत्रिका' में संपादकीय टिप्पणी में युवकों का आवाहन किया है कि गांव में जाकर किसानों को संगठित करें. शहरों में सम्मेलन आयोजित करके जो नेता अंग्रेजी में धुंआधार भाषण देते थे उनके बारे में लिखा है वह बातूनी आदर्शवाद और बगुला भगत हैं. निराला के इस विचार का प्रतिपादन 'अप्सरा' उपन्यास में 'चंदन' नामक पात्र किसानों को संगठित करके करता है. निराला किसान जीवन के शोषण जुल्म की कहानी ही नहीं कहते बल्कि चेतना शील किसानों की अभिव्यक्ति भी करते हैं. उन्हें साहस और उत्साह के अथाह सागर के रूप में दिखाया गया है. "किसानों का सबसे बड़ा कसूर यह है कि वह पहले की तरह अब नहीं डरते, लगान के अलावा वाजिब अर्जित रकम और जो रकम और श्रम किसानों से लिया जाता है और यह जो खली भूसा और पुवाल और सिचांई का काम आदि जो अब वह नहीं देते और देखते हैं जैसे परम मित्र हो"[28].

निराला का किसान संघर्ष करता है. जमीदार व अन्य शोषणकारी सत्ता का शोषण सहना नहीं चाहता है वह संघर्ष करता है और अपने मूल्य सिद्धांत पर टिका रहता है. निराला के किसान पात्रों में चेतना आती हुई प्रतीत होती है.

नागार्जुन किसान जीवन पर उपन्यास व अन्य साहित्य रचा है. उनकी महत्वपूर्ण रचना 'बलचनमा' है जिसमें निम्न वर्गीय किसान पुत्र अपनी यातनापूर्ण जीवन कथा कहता है. पिता के मरने के बाद बचपन से ही उसे जमींदार के यहां नौकरी करनी पड़ती है और जमींदार के अमानवीय अत्याचारों को झेलना पड़ता है. फिर वह बड़ा होकर किसान जीवन के समस्त अनुभवों और पीड़ाओं को सहता है. वह सामाजिक आर्थिक गैरबराबरी के ढांचे को अपने जीवन में बूखूबी देखता है, नागार्जुन ने बलचनमा के माध्यम से उस वर्ग के किसान की कहानी रच दी.

फणीश्वर नाथ रेणु ने ग्रामीण जीवन पर दो महत्वपूर्ण उपान्यास लिखे हैं, 'मैला आंचल और परती परिकथा'. मैला आंचल में समग्र अंचल व्यक्त हुआ है. इस कारण से किसानों की समस्याओं के साथ ग्रामीण समाज की अन्य समस्याओं को भी रेणु ने दिखाया है. परती परीकथा में देश की स्वाधीनता के बाद सातवें – आठवें वर्ष का चित्रण हुआ है. इसमें स्वाधीनता की बाद की योजनाओं में जनता में उत्साह दिखाया गया है. जमींदार को आदर्श के रूप में पेश किया गया है. रेणु गांव को बहुत मीठा और सुंदर दिखाते हैं. कहीं कहीं गांव को बाहरी बाहर से दिखाया गया है. वे गांव के आपसी अंतर्विरोध को और समग्र गरीब जनता का राज्यव्यवस्था के साथ अंतर्विरोध परती परिकथा में नहीं दिखा पाते. इसके कारण उपन्यास में ही अंतर्विरोध पैदा हो जाते हैं.

रेणु के इस उपन्यास की तर्ज पर ही रामदशरथ मिश्र के 'पानी के प्राचीर और भैरव दास गुप्त के उपन्यास 'सतीमैया के चौरा' तथा गंगा मैया' में किसान जीवन की समस्या का चित्रण हुआ है. जगदीशचंद्र माथुर ने पंजाब में किसान की स्थिति पर अपनी कलम चलाई है. 'धरती धन अपना' (1972), व अन्य उपन्यास लिखे है. माथुर के साहित्य में मुख्य सवाल सामाजिक- आर्थिक विषमता का हैं. 'धरती धन अपना' में पंजाब के गांव में जाट जमींदार और भूमिहीन मजदूर जो दलित समुदाय से आते हैं का संघर्ष है. भूमिहीन मजदूर और जाट जमींदारों में बेगार के लिए ठन जाती है. किसान संघर्ष का आव्हान करते हुए हड़ताल कर देते हैं. दोनो तरफ से सामाजिक बायकाट होता है और जमींदार विजयी होते हैं. यहां वर्ग संघर्ष तो दिखता है लेकिन बिना सामाजिक राजनीतिक विश्लेषण के पराजित होता हुआ दिखता है. यांत्रिकता और

किताबी और राजनीति की कड़ी आलोचना होती है. इसे संघर्षशील जनता की पराजय और उस गांव के मजदूरों की पराजय नहीं है बल्कि देश के बड़े हिस्से में मेहनतकश जनता की हार है. इसको जमीनी धरातल पर जाकर एंव अपने वर्ग को संगठिक करते हुए संघर्ष के विकल्प पर सोचने को मजबूर करते हैं.

हमारे समकालीन समाज के रचनाकारों में वीरेंद्रजैन 'डूब' उपन्यासों में गांव को केंद्रित करते हुए लिखते हैं. ग्रामीण जीवन में सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक सवालों से लेखक रूबरू होता है. इसके अलावा जिन्होंने प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से गांव की विषय वस्तु को अपने लेखन में जगह दी है वह हैं संजीव (धार), मधुकर सिहं (अनहद बाजै ढोल),), विद्या सागर नौटियाल (पौ फटा जा)शिवमूर्ति (आखिरी छलांग), मैत्रेयी पुष्पा (इदन्नम), कमलकांत त्रिपाठी (बेदखल), भीमसेन त्यागी (जमीन) वनाफर चंद्र (जमीन), रामधारी सिहं दिवाकर (अकाल संध्या), जगदंबा प्रसाद दीक्षित (मुर्दाघर), मदन मोहन (जहां एक जंगल था) आदि लेखक हैं जिन्होंने लिंग भेद सामाजिक आर्थिक भेदाभाव, शोषण एंव किसान जीवन के आपसी अंतर्विरोधों के साथ-साथ किसानों का राज्यसत्ता के साथ अंतर्विरोधों को भी अपने उपन्यासों में चित्रित किया है.

कहानी

कहानी में भी किसान प्रेमचंद के माध्यम से आये. कहानी में किसानों की समस्या का सवाल प्रेमचंद द्वारा ही उठाया गया. प्रेमचंद की पूस की रात, सवासेर गेहूं, ठाकुर का कुआँ और कफ़न जैसी कहानियों में अत्याचारी व्यवस्था का भयानक रूप देख सकते हैं.

सवासेर गेहूं कहानी में शंकर द्वारा विप्र से लिए गए सवासेर गेहूं के बदले गुलामी का पट्टा अपने गले में डाल लेता है. यह गेहूं शंकर अतिथि सत्कार के लिए विप्र से उधार लेता है. अतिथि एक साधू है. खलिहानी में डेढ़ पसेरी गेहूं देकर अपने कर्ज से चुकता समझ चूका था कि सात वर्ष बाद उससे सवासेर गेहूं का तकादा किया जाता है. साल भर पेट काटकर 60 रूपए देने के बाद भी उसके यहाँ 120 रूपए बाकी

रह गए. सूदखोरी के द्वारा निर्मम शोषण निम्न किसान की सच्चाई बन गई है. प्रेमचंद ने इस तरह अनेक कहानियों के माध्यम से किसान जीवन की सच्चाई अभिव्यक्त की है.

प्रेमचंद के बाद लम्बे समय तक 'कहानीकार' शहरी जीवन की समस्या पर कहानी लिखने लगे. फणीश्वर नाथ रेणु शिवप्रसाद सिंह ने ठेठ गाँव की कहानियां लिखीं. इन्होने गाँव में मानवीय सम्बन्ध और संवेदनाओं को उभारा था. कृषि संरचना और किसानी समस्याओं को ये रचना के केंद्र में नहीं ला पाए थे. 'रांगेय राघव' भी गाँव के यथार्थ को अपनी कहानियों में लिखते रहे. उनकी कहानी 'गदल' ग्रामीण राजस्थानी क्षेत्र को दिखाती है. नई कहानी आन्दोलन में 'शरदजोशी' जैसे कहानीकार 'कोशी का घटवार' कहानी संग्रह लिखा, जिसमें उन्होंने दाज्यू, पद्मा की कहानी, कि करोमि जनार्दन और 'कोशी का घटवार' पहाड़ी जीवन को लेकर लिखी थी. जोशी जी ने इस कहानी में पहाड़ी ग्रामीण जीवन की परेशानियों और अंतर्विरोध को दर्शाया था. बाकी संग्रह की अन्य छ: कहानियों में मजदूर और मध्यवर्गीय जीवन को लेकर लिखी गई. समकालीन दौर में भी किसानों को उनकी जमीन से बेदखल किया जा रहा है. खेती में अनुत्पादकता निरन्तर जारी है. किसानों के मजदूर बनने का सिलसिला चल रहा है. रोजी- रोटी की तलाश में किसान शहरों की तरफ़ पलायन कर रहे हैं. थोड़ी बहुत बची कृषि योग्य जमीन को बचाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं. पहले की समस्याओं के साथ समकालीन समय में किसानों की परेशानियां और बढ़ रही हैं.

आज के किसान कोरपोरेटी फार्मिंग और कोर्पोरेट के बैंकिंग का बंदी बन रहा है. मध्यवर्गीय किसान और अपने हाथों कृषि कर्म करने वाले छोटे और मझोले भू-स्वामी और रैय्यत. इनका कृषि संकट इतना गहरा गया है कि दुश्मन कहीं दिखाई नहीं दे रहा. यह उदारीकरण का चकाचौंध का दौर है. न अकाल, न बी. डी. ओ. न कर्जा वसूलता बोहरा ही है फिर भी कृषि से जुडी सामग्री बेचने को किसान मजबूर हो हैं. जैसे कृषि से जुड़े परम्परागत उपकरण बैल आदि. इस यथार्थ को 'कैलाश बनवासी' अपनी कहानी 'बाजार में रामधन' में दिखाते हैं. रामधन अपने बैल बेचने को मजबूर हो रहा है, और कब तक इसको बिकने से बचाएगा. इन नए पुराने सवालों को कुछ कहानीकारों ने अपने साहित्य में जारी रखा है जो निम्नलिखित है. (बैल) विजेंद्र अनिल, (नैंसी का घोडा) स्वयं प्रकाश, (इंद्रजाल) विजयकांत, (पब्लिक)

रामधारी सिंह दिवाकर,(मनसा बढ़ई) पुन्नी सिंह, (फठ जा पंचधर), (सन्निपात) विद्यासागर नौटियाल, (नून,तेल,और मोबाइल) सुभाषचंद्र कुशवाहा, (उन्नाधारी) मैत्रेयी पुष्पा, (चंदा) मदनमोहन, (विषवेल) जयनंदन, (कुआँ) महेश कटारे, (बूढी) रत्नकुमार साम्भारिया, (नवजात का कथा) श्रीधरम, (माघ की रात) वासुदेव), आदि.

इन रचनाकारों ने ग्रामीण समाज के सच को सामने लाने का अथक प्रयास किया. इन कहानियों में ग्रामीण समाज के आर्थिक-सामाजिक, धार्मिक राजनितिक मसले और लिंगगत असमानता को सशक्त रूप में उभारा है. कृषि व्यास्था एवं किसान के नए नए संकट और सवाल को भी इन कहानियों में जगह मिली है.

कविता

हिंदी साहित्य में किसान जीवन की कविता का दखल बहुत पुराना है. किसान जीवन की कविता का व्यवस्थित अध्ययन करने से पता चलता है कि इसके बीज भक्तिकालीन कवियों के यहाँ मौजूद है. कबीर, सूर, तुलसी के यहाँ भी किसान जीवन से जुडी कविताएं है. किसान जीवन की भक्ति काल की कविता में मध्यकालीन सामंती रचना से पीड़ित किसान के शोषण और बेगार की कहानी मुख्य रूप से मिलती है. कविता क्या है, इसकी अवधारणा के बारे में युवा आलोचक रामाज्ञा शशिधर कहते हैं. "किसान कविता एक व्यापक अवधारणा है. जिसमें किसानों या किसान कवियों के द्वारा रचे गए जनगीत, लोकगीत और काव्य के अतिरिक्त किसान जीवन से सहानुभूति रखने वाले कवियों की कविता भी शामिल हो सकती है और किसी अन्य विषय वस्तु पर रचित कविता का एक हिस्सा भी हो सकती है. अपने स्वायत्त एवं अधीनस्थ दोनों रूपों में किसान कविता किसान चेतना के अनुभव, उमंग, शोषण एवं स्वप्न के प्रतिरोध की अभिव्यक्ति है."[29]इस अवधारणा से कविता में किसान जीवन की उपस्थिति का दायरा व्यापक हो जाता है.

औपनिवेशिक दौर की कविता में साम्राज्यवाद और देशी सामंतवाद के खिलाफ किसानों के संघर्ष को तत्कालीन कवियों ने रचा. प्रताप नारायण मिश्र की कविता 'ब्रेडला स्वागत' और 'कानपुर

महात्म्य' में देखी जा सकती है. 1857 के बाद हिंदी कविता में किसानों की दुर्दशा और उनके जीवन से जुड़े हुए सवाल व्यापक रूप से आने लगे थे. मैथिलीशरण गुप्त ने भारत भारती और अन्य खंडकाव्य किसान में किसान जीवन पर कविता लिखी है. आगे चलकर इस परंपरा में निराला, नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, केदारनाथ सिंह, मंगलेश डबराल, चंद्रकांत देवताले, ऋतुराज निर्मला पुतुल, लीलाधर जगूड़ी, आलोकधन्वा, अनुज लुगुन, आदि प्रमुख कवि के रूप में विख्यात हुए.

लेख, निबंध, आलोचनात्मक पुस्तक आदि में किसान जीवन पर रचना की जाने लगी. इनकी शुरुआत 18 वी शताब्दी के अंतिम दशक में होने लगी. किसान जुड़ी सामग्री पत्र पत्रिकाओं में छपने लगी. प्रतापनारायण मिश्र की 'ब्राह्मण' महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'सरस्वती' पत्रिका में किसानों से सम्बंधित विषय पर लेख, टिप्पणी, कविता छपने लगी.

महावीर प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'सम्पात्तिशास्त्र' कृषि और किसान जीवन की समस्या को केंद्र में रखकर लिखी गई है. आगे किसान समस्या को उठाने वाई पत्रिकाओं में प्रताप (स. गणेशंकर विद्यार्थी, कानपुर) अभ्युदय (स. कृष्णकांत मालवीय) नवशक्ति (बिहार से) जनता (स. रामवृक्ष बेनीपुरी) हुंकार(राहुल संकृत्यायन), हल, किसान, व अन्य पत्रिकाएँ शामिल थी.

इन पत्रिकाओं में किसान जीवन की समस्याएं, चेतना और उन्हें जागरूक करने की अपार क्षमता व्याप्त थी. ये पत्रिकाएँ रचनात्मक साहित्य के माध्यम से भी किसानों को शिक्षित करती थीं. ऐसी कुछ पत्रिकाएँ हमारे समय में भी अपनी उपस्थिति दर्ज कराती रही हैं, जिन्हें हम 'समयांतर', 'फिलहाल' समकालीन तीसरी दुनिया के नाम से जानते हैं. इनमें किसान के नए नए सवालों के साथ उनकी समस्याओं को उठाया जा रहा है.

2. किसान जीवन का स्वरुप

जमीन

जमीन कृषि अर्थव्यवस्था का आधार होती है. जमीन पर मालिकाना हक किसका? जमीन पर वास्तिक हक किसका होना चाहिए? जमीन को जोतने बोने का या फिर जमीन को घेरकर कब्जा करने वाली पीढियों का. जमीन पर कब्जा दैवीय सत्ता के नाम पर किया गया हो या राजनीतिक, आर्थिक और राजनीतिक सांस्कृतिक सत्ता के नाम पर किया गया हो, उसी कब्जे को आज भी तकनीकि और कागजी आधार दिखाकर बरकार रखा गया हो, यह कहां तक उचित है?

जमीन कोई दैवीय प्रद्दत सत्ता द्वारा दी गयी संपत्ति तो नहीं है, कोई भी जन्म के साथ लेकर तो नहीं आया है. यह प्राकृतिक और सार्वजनिक संपत्ति है. सभ्यता के विकास के साथ साथ मनुष्य का भी विकास हुआ है. मनुष्यों में खान-पान आदि खाद्य सामंग्री संचनय की प्रवृति आने लगी, भविष्य की चिंता सताने लगी जबकि शुरुआती दौर में मनुष्य जमीन को केवल जरूरत भर के लिए ही इस्तेमाल करता था. जानवरों को भी पालतू बनाकर चराना में शुरु कर दिया था. जिस जमीन पर जिसका पशु चरता था उतनी जमीन उस पशु मालिक की हो जाती थी. एक तरह से पशु मालिक संबंधित जमीन को हथिया लेते. धीरे-धीरे खेती शुरु होने लगी, जमीन की सरंचना भी व्यवस्थित होने लगी थी. समाज का व्यवस्थिति ढांचा बनने लगा और सामाजिक आर्थिक राजनीतिक संरचना बनने लगी. जमीन को जिसने बोया जोता इस्तेमाल किया वह जमीन उस व्यक्ति की, कबीले की या उस समाज की हो गयी, जिस प्रकार के राजनीतिक ढांचे विकसित हुए , उसी तरह से जमीन पर एकाधिकार की धारणा विकसित होने लगी.

जमीन कबीलाई समाज की हुआ करती थी, इसके बाद धीरे धीरे कबीले के मुखिया की और और फिर राजा का एकाधिकार होने लगा, अगली व्यवस्था भी आर्थिक और राजनीतिक में भी राजा और सांमत 'दैवीय मान्यता प्राप्त' 'वैधानिक और घोषित' वारिस बनने लगे. किसान जमीन न पर फसल उपजाता है और तय फसल को कर के रूप में तत्कालीन राजकोष में जमा करता. भिन्न भिन्न क्षेत्रों में कर

की मात्रा में भिन्नता थी. मापक भी अलग अलग थे. परंतु जमीन का किस्सा एक जैसा था. जहां कुछ मालिक होते सब बाकी प्रजा के रूप में काम करते. यही सिलसिला सदियों तक चल रहा है. अभी भी आधी आबादी भूमिहीन है. "2001 की जनगणना के अनुसार कुल ग्रामीण आबादी 72. 2 %में 54. 4 % कृषि कार्य करते हैं. खेतीहर मजदूर 45. 6% हैं. नेशनल सेंपल सर्वे के आंकडों के अनुसार 41987. 88 में भूमिहीन किसान और खेत मजदूर), एवं सीमांत किसानों की संख्या क्रमश: 34. 4% हो गयी".[30] "40% आबादी भूमिहीन है. बाकि 40% आबादी के पास नाममात्र की जमीन है जो 5 एकड़ से भी कम है. 20 % आबादी जमीन का बहुत बड़ा हिस्सा अपने कब्जे में रखा है, यह समुदाय ही बाकि जमीन पर नजर गढाए हुए है. समकालीन समय में ही संपत्ति के साधन के संकेंद्रीकरण मनोवृत्ति से इस जमीन पर कब्जा आसान होता है"[31]

जमीन समाज में सामाजिक हैसियत के रूप में देखी जाती है साथ ही जीविका का महत्वपूर्ण व स्थाई साधन है. एक वर्ग इसी जमीन पर कब्जा जमाता आ रहा है. कब्जा करने के लिए वैधानिक मान्यंताएं कानून का भी सहारा लिया जाता रहा है. कहीं कहीं विकास और देश हित की दुहाई दे कर जमीन पर एकाधिकार किया जा रहा है और कहीं कर्ज के जाल में किसानों को फंसाकर जमीन हथिया ली जा रही है.

जमीन संदर्भों को लेकर हंस में छपी कुछ महत्वपूर्ण कहानियों पर विचार किया जा रहा है,सेज जैसे कानून बनाकर देश के विकास के नाम पर सरकार मेहनतकश जनता की जमीन छिन रही है. और व्यापारियों को फायदा पहुंचाया जा रहा है. छोटे जमीन मालिकों को पहले जमीन देने के लिए मजबूर किया जाता है. प्रोत्साहित न होने पर उन्हें डराया धमकाया जाता है. फिर एक दूसरे विभाग केंद्र, राज्य सरकार को दोषी ठहराया जाता है. जबकि इन नीतियों पर सारी सरकारें एकमत है. किसानों को रोजगार, जीविका और जीवन के लिए सबकुछ देने का वायदा किया जाता है. इसकी पुष्ठि 'जड़-जमीन' कहानी में इस प्रकार हुई है:-"बात यह है कि हमारे गांव की खेती वाली जमीन सरकार ने अधिग्रहण कर लिया है, इस जगह पर सरकार ने सेज घोषित कर दिया है. यहां पर एक बड़े उद्योगपति की कार बनाने की फैक्ट्री बनाना प्रस्तावित

किया."[32]इन दो किसानों के वार्तालाप से लगता है कि सरकार ने किसानों को कुछ नहीं सुनाया बस जमीन देने का फरमान सुना दिया. "सेज मतलब 'स्पेशल इकोनोमिक जोन', विशेष आर्थिक क्षेत्र, इस जमीन में फसल की जगह कारों की पैदावार होगी. रघुवीर इसके बदले हमें क्या मिलेगा. भू-अर्जन विभाग ने पुरानी रजिस्ट्री के आधार पर जमीन का मूंल्याकन करके मुआवजा दे दिया है. रघुवीर के स्वर में निराशा थी. इतनी कीमती जमीन का मुआवजा कुछ हजार रुपए बस, मैंने पूछा"[33]. किसान न तो मुआवजे से संतुष्ट है और न ही अपनी जमीन देने को तैयार है. जमीन अधिग्रहण की तारीक नजदीक है, फिर भी किसानों को खेतों में जो जी तोड़ मेहतन किए जा रहे हैं, खेतों में परिश्रम की फसल लहलहा रही है.

किसानों ने जमीन नहीं छोड़ी, हर तरह से जमीन अधिग्रहण रुकवाने की कोशिश की. सरपंच से लेकर मुख्यमंत्री तक गुजारिश की. हर जगह से निराशा मिली. प्रशासन हाकिमों के यहां भी धरना प्रदर्शन किया लेकिन नतीजा वही निकला. अब संघर्ष ही अंतिम नियति बन गयी है. हर जगह से टुकराए जाने के बाद किसानों ने संघर्ष छोड़ दिया है. इस संघर्ष में जो होना था वही हुआ. "इस सुजानपुर के 21 किसानों की हत्या पुलिस द्वारा कर दी गयी. गंभीर रूप से 35 लोग घायल हो गए."[34] यह किसान व्यवस्थित संगठित होकर प्रदर्शन कर रहे थे. इनका नेता रघुवीर भी मारा गया. किसानों को व्यवस्था के ताकत को भांपते हुए लड़ने के तरीके इजाद करना चाहिए, व्यवस्था अपने हित में कुछ भी कर देती है. तब किसानों को अपने हित में और मजबूती से लड़ते हुए जमीन छीनने वाले अवसरों को ही खत्म कर देने चाहिए. यह अकेले सुजानपुर की कहानी नहीं है. बल्कि हमारे देश के अलग अलग हिस्सों की कहानी है.

किसानों पर आदेश थोपे जाते हैं, जहां किसान दरबारी हुक्मों को मानने से इंकार कर देते हैं वहां इसी तरह से पुलिस कार्यवाही और राज्यसत्ता के सह और जानकारी में आंतकी हमले होते हैं और अनगिनत किसानों की हत्या की जाती है. भू अधिग्रहण छोटे और मध्यम किसानों को सबसे अधिक प्रभावित करता है. उनके सामने जीवन और जीविका का सवाल पैदा हो जाता है. जैसा कहानी में दिखता है कि सुजान पुर में सामाजिक शोषण, गैरबराबरी के खिलाफ लोगों में चेतना आ रही है. इसी चेतना से ओत-प्रोत होकर किसान हर जुल्म के खिलाफ लड़ रहे हैं. कहानी में भले ही शोषणकारी सरकार और उसकी निजी

कार बनाने वाली कंपनी की जीत दिखाई जा रही हैं, लेकिन यह किसान प्रतिरोध की चिंगारी एक दिन किसानों को संगठित करके मजबूती से लड़ने को तैयार करेगी. और व्यवस्था पलट देगी. कहानीकार यथार्तवादी दृष्टिकोण से ग्रामीण समाज को देखता है. कहानी में, जड़ जमीन से बेदखल किसान क्या करे यह सवाल छोड़ देता है.

एक दूसरी कहानी जो जमीन और सामाजिक परिप्रेक्ष दोनों को दर्शाती है. इस कहानी में जमीन की समस्या ज्यादा महत्वपूर्ण है फिर भी कहानी सामाजिक पक्षधरता को ही समेटे हुए है. कहानी में दिखाया गया है कि किस तरह से सरकार ने जमीन से कुछ एक पट्टा भूमिहीन किसानों के नाम किया है. लेकिन अभी उस जमीन पर व्यवहारिक रूप से गांव के बड़े किसानों का ही अधिकार रहता है. यह सरकारी तंत्र में उन्हीं का चलता है. दलितों में ज्यादातार भूमिहीन थे कुछ के पास बिस्सा दो बिस्सा जमीन था इन परिवारों के पास सन 1978 से पट्टे के कागज रखे हैं पर कब्जा नहीं मिल पाया है.

तहसील से लेकर डी. एम. तक दौड़ते रहे, विधायक से लेकर मंत्री तक मांग पत्र देते रहे, धरना प्रदर्शन भी होते रहे. लेकिन जमीन पर कब्जा नहीं मिल सका. बहुत संघर्ष के बाद अंबेडकर की मूर्ति लगाने के लिए जमीन मिल जाती है. इस कहानी में ग्राम की सरंचना को जिस तरह से पेश किया गया है. यह महत्वपूर्ण है. ग्राम खजुराहो में "मिसिर जी यानि पंडित जी रमेश्वर मिश्रा प्रधान है. समझ लीजिए प्रधानी का पट्टा लिखा है इसके नाम. बीच में एक बार प्रधानी से तभी वंचित रहे थे जब खजुरहट में रिजर्व शीट घोषित हुई थी. इसके अलावा किसी की क्या मजाल की कोई जीत के दिखा दे. खजुरहट में ब्राहण परिवार काफी थे. कुछ ठाकुर थे दो चार यादव थेऔर ऐसे ही दो चार मुसलमान थे. दलित बस्ती काफी बड़ी थी. ज्यादातर चमार और मुसहर परिवार. कुछ दलितों को पटाकर रखो चुनाव जीतना मुश्किल नहीं है. मिसिर जी भी अबके चुनाव पर नजर डाल रहे थे. जमीन थी लेकिन बहुत नहीं ठेकेदारी का काम बहुत लंबा चौड़ा था"[35] इनकी व्यवहारिकता मानसिकता और दिनचर्या थी, यह सोचते हैं कि गरीब दलित दबाने और कुचलने और मुसीबत झेलने के लिए ही बने हैं.

ये अपनी पीढ़ि के भीतर भी ऐसा ही मूल्य देखना चाहते हैं. राघेंद्र का उच्च शिक्षा में आते आते जीवनचर्या और सोच दोनों बदलने लगी. गांव के अधिकांश सवर्ण जाति के लोग अंबेडकर को दलितों का नेता समझते और अंबेडकर से घृणा करते. 14 अप्रैल को अंबेडकर जंयती के अवसर पर ग्राम प्रधान मिसिर को बुलाया गया लेकिन वह नहीं आया और अपने प्रतिनिधि के रूप में अपने बेटे राघवेंद्र को भी दिया. उसने काफी सोच विचारकर अंबेडकर की मूर्ती पर माल्यार्पण किया और पैर छू लिए. इससे ब्राहमणों को धक्का लग गया. मिसिर जी उससे घृणा करने लगे. और इस कहानी में लेखक को जमीन के साथ सामाजिक श्रेष्ठता और मूल्य को टूटते हुए दिखाया गया है. नई पीढि-लिखी है वह पुरानी चीजों को उसी रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है. भले ही ऐसी संख्या कम ही क्यों न हो. लेकिन लेखक ने ऐसा संदेश दिया है. पढ़ने लिखने वाले युवाओं में लेखक का सपना समाया हुआ है.

इसी प्रकार जमीन से जुड़ी हुई समस्या 'विजयकांत' की कहानी 'इंद्रजाल' में है. इस कहानी में वर्गीय दृष्टिकोण समाहित है. एक वर्ग वह है जो जमींदार और उनकी संरक्षक व्यवस्था से है. दूसरी ओर चेतनशील गरीब, भूमिहीन, किसान है जो उत्पीड़ित वर्ग से आते हैं. जमींदारी उन्मूलन कानून किस तरह से जमींदारों ने मखौल उड़ाया है इसे कहानी में दिखाया गया है. समाज जनचेतना के सामने जमींदार वर्ग किस प्रकार से सांमजस्य स्थापित करता है और शोषण को जारी रखता है. किसान अपने शोषण को पहचान नहीं पा रहा है और इस वर्ग को किसान अपना देवता और तारनहार समझते हैं. इस कहानी की आलोचना 'बजंरग बिहारी तिवारी' ने बहुत सटीक शब्दों में किया है. "यह सही अर्थों में किसान आंदोलन की कहानी है. दूसरे अर्थ में दलित सवर्ण संघर्ष की. जमींदार एक तरफ है, दूसरी ओर मुसहर जाति के लोग. मुसहर पहले धनसहर मिसर के चक्रब्यूह में फंसते हैं और पट्टे पर ली जमीन से उपजा अन्न, कर्ज लेकर खरीदे गए और डीजल, इंजन सब मिसिर महाराज के हाथों में गंवा देते हैं. मुसहरों में इनकी स्त्रियां क्रांति चेतना भरती है, रघु मुसहर की माई. उसका पति कम्यूनिस्ट आंदोलनकारी थे. जिसकी हत्या जमींदार ने करवाई. रघु पहले अपनी कम्यूनिस्ट मां से चिढ़ता है. लेकिन धीरे धीरे जंमीदार की असलियत समझ जाता है. सारे मुसहर अपने खेत में पैदा हुआ अन्न मिसिर महाराज के पास पहुंचा देते हैं. मिसिर एक बार पहले सबको जेल

भेजवा चुका है. इस बार पीट-पीटकर अधमरा कर देता है. अंतत: मोर्चा संभालती मुसहर स्त्रियां. जमींदारों के बखार से अनाज उठवा लिया जाता है. और भविष्य के लिए चेतावनी दी जाती है. "[36] इस कहानी में लेखक जमींदारों को हारता हुआ और मेहनतकश गरीब दलित खेतिहर मजदूर को जीतता हुआ दिखाया है. उन्हीं को हक और अधिकार मिलेगा जो अपने दुशमनों को पहचानेगें और अपना हक लड़कर छीनेंगे.

ऋण

किसान जीवन में ऋण एक आवश्यक अंग बन गया है खेती के उत्पादन के आमदनी से किसान की जरूरी जरूरतें पूरी नहीं हो पाती हैं और शायद ही खेती करने वाला कोई किसान बचा हो जिस पर ऋण न हो. खेती से किसान की आय तिमाही और छमाही पर ही होती है. जबकि किसान की जरूरत बारहमास बनी रहती है. आज पूंजीवादी संरचना में बिना पैसे कुछ भी हासिल नहीं कर सकते. किसान को जीवन के जरूरत के लिए वस्तुएं बाजार से खरीदनी ही पड़ती हैं. इसीलिए भी ऋण में जाना होता है. ऋण सामाजिक और धार्मिक आवश्यकताओं के लिए भी लेना पड़ता है. इन तमाम कर्मकांडों को निभाना वह अपनी प्रतिष्ठा भी समझता है.

ऋण उस समाज में प्रचलित होता है जहां पर लेने और देने वाले दोनों मौजूद रहते हैं. यहां एक बहुत बड़ा समुदाय मेहनत करके भी अपनी आजीविका नहीं अर्जित कर पाता वहीं एक वर्ग बिना मेहनत करके श्रम की चोरी करके जिंदा रहता है. ऋण की अवधारणा को संरचनागत वैधानिक व्यवसाय बना दिया गया है. ऋण का फायदा पूंजीपति वर्ग ही लेता है. वास्तविक रूप से इस सरकारी ऋण का फायदा एक छोटा पूंजीपति वर्ग ही उठाता है. गैरसरकारी ऋण में महाजनी और सूदखोरी का काम करता है. ग्रामीण समाज में थोड़ा सा आर्थिक संपन्न व्यक्ति भी सूद पर पैसा देना चाहता है. यहां सूद की दर बहुत ज्यादा होती है. यहां सामाजिक आर्थिक हैसियत पर और आपसी विश्वास पर ऋण दिया जाता है. ब्याज न चुकाने पर वह खुद को ही गिरवी रख देता है. ऋण की वजह से लाखों किसान मजदूर बन रहे हैं.

हंस पत्रिका में 'ऋण' संबंधित कहानियां की समीक्षा यहां प्रस्तुत करके यह देखने का एक प्रयास है कि किसानों के जीवन पर ऋण का क्या-क्या प्रभाव पड़ा, इन कहानियों के माध्यम से किसानों की अनकही व्यथा को समझेंगें जो इस प्रकार है :- आज भी ग्रामीण समाज में सूदखोरी जिंदा है. अंग्रेजों द्वारा सत्ता हस्तांतरण के बाद ग्रामीण क्षेत्रों में बैंक खोले गए. शायद यह सोचा गया होगा कि सूदखोरी कम हो जाएगी, लेकिन सूदखोरी के साथ कमीशन खोरी भी चालू हो गयी. तमाम ताम झाम और दिखावे में ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों का संपर्क क्लर्की सरंचना से नहीं हो पाता है. इसीलिए काम कराने के क्रम और तकनीकि जानकारी का अभाव रहता है. इस तरह जानकारी के अभाव की वजह से क्लर्की नौकरशाही गरीब किसानों को लूटते रहते हैं.

पढ़े लिखे जागरूक लोगों को सीधे सीधे नहीं ठगते लकिन काम नहीं करते हैं. कार्य को टालते रहते हैं. अकेला निस्सहाय आदमी क्या करे? जहाँ जाता है ऐसी ही संरचना मौजूद रहती है. कहानी में चंद्रदेव पढ़ा लिखा एम. ए पास नवयुवक है जिसे बैल खरीदने के लिए ग्रामीण बैंक से लॉन लेना है. बैंक मैनेजर लोन नहीं देता उसे कमीशन चाहिए. जहाँ-जहाँ लोन लेने की प्रक्रिया में जाना पड़ता है और कागजात पूरे किये जाते हैं, वहां हर एक जगह उसे परेशान किया जाता है.

चंद्रदेव नौकरी की तलाश में शहर जाता है. उसके पिता द्वारा भेजे गए पत्र से गाँव की स्थिति समझ में आती है "गाँव वालों की नीयत बहुत ज्यादा ख़राब हो गई है. . . . मठिया के पास वाली धनहर जमीन को सिताबी चौधरी बटईदार जबरन हथिया लेना चाहता है. . कि उसे नौकरी को छोड़ जल्द से जल्द गाँव लौटना चाहिए. "[37] घर परिवार और गांव के हालात सुनकर चंद्रदेव हमेशा के लिए गाँव लौट आता है.

चूँकि चंद्रदेव पढ़ा लिखा चेतनाशील नवयुवक है इसलिए वह बैंक से लोन लेना ज्यादा प्रासंगिक समझता है. वह सूदखोरों को अत्यधिक सूद देने के चुंगल से बच जाता है पर कमीशन खोरों के चुंगल से कैसे बचे? सब तरफ़ कमीशनखोरों और दलालों का तंत्र बना हुआ है. वह बैंक के चेयरमैन से सवाल जवाब करता है "क्या आप बता सकते हैं कि हमारी गौरमिंट ने ग्रामीण बैंकों की व्यवस्था क्यों की है?

बोलिए."[39] जरा सोचिये !! सवाल का जवाब स्वयं देता है "हम आप जैसे तमाम स्माल किसानों को सूदखोर महाजनों से छुटकारा देने के लिए हमारी गौरमिंट ग्रामीण बैंकों की व्यवस्था की है और यदि बैंक मेनेजर भी बिना चुपका (रिश्वत) लिए कर्ज न दे, तो क्या फर्क रह जाएगा इन दोनों में? बोलिए. जरा सोचिये."[39]

चंद्रदेव 'भैया जी नेता' के पास शिकायत लेकर जाता है. भैया जी चंद्रदेव के मुद्दे को अपने स्वार्थ के लिए राजनितिक सवाल बनाते हैं. उनके पास कमीशन नहीं पहुँचता और उन्हें इस मुद्दे को भुनाकर चुनाव भी जीतना है. भैया जी नेता बोलते हैं. "(मैनेजर) बहुत अपने को अफलातून की औलाद बनता है, साला सारा पैसा चेयरमैन और पंडित टीकाराम मिसिर के साथ मिलकर तैतीर पॉइंट तीन करता रहा और मुझे खोटी चवन्नी का भी शेयर नहीं देता."[40]

चंद्रदेव का दुखड़ा सुनकर भैया जी नेता ने अपने स्वार्थ में आक्रोश प्रकट किया था और यह सोचकर फूले न समाए थे कि "कोपरेटिव के चेयरमैन की चेयर उलटने का यही गोल्डन चांश है. बैंक मेनेजर तो मोहरा मात्र है. असली मात देनी है चेयरमैनी के कमिंग इलेक्शन में बटेसर सिंह को."[41] चंद्रदेव अब कहाँ जाए? क्या करे? कैसे जीविका चलाए? नौकरी नहीं मिल रही है कर्जा भी नहीं मिल पा रहा है. किस्से शिकायत करे? जहाँ शिकायत करने जाता है, वहां का तंत्र भी ऐसे ही घूस मांगता है. उसके पास दो रास्ते बचते हैं. एक इस नियति को स्वीकार करे या ईश्वरीय न्याय की आशा में आत्महत्या करे. दूसरा अपने जैसे पीड़ित शोषित किसानों के साथ संगठित होकर संघर्ष करे और ऐसे हालतों को बदल दे.

आत्मसम्मान

आज किसान तमाम परेशानियों से जूझ रहा है, वह अपने आत्मसम्मान को बचाने का प्रयास करता है, उसके प्रयास असफल होते दिखते हैं. किसान का आत्मसम्मान क्या है? किसान का आत्मसम्मान है, कृषि उत्पादों से जीवन चलाना. आजकल कृषि उत्पादों से जीवन चलाना असंभव है. वह अपने आत्मसम्मान को कैसे बचाएं? किसान के आत्मसम्मान पर लिखी कुछ एक कहानियों का जिक्र किया जा रहा है. इन कहानियों में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष किसानों के आत्मसम्मान के सवाल ढूंढें और देखे जा सकते हैं.

'लोहे का बाक्स और संदूक' कहानी 'मिथिलेश प्रियदर्शी' की है. यह कहानी अक्टूबर 2007 में हंस में छपी. यह कहानी काले कलूटे आदिवासी की कहानी है. जो जंगल से निकलकर 'सभ्य समाज' के आस पास रहने लगा. इनका उपयोग कर जमींदार अपने खेती और अपनी शरीर की भूख पूरी करने लगा. उन्हें बेगारी कार्य के लिए मजदूर आसानी से मिल जाते. इन्हीं आदिवासी समाज से एक लड़का संघर्ष करके पुलिस में सिपाही बन जाता है. यह 'मारकुश' नामक सिपाही इसी 'सभ्य समाज' में नौकरी करता है. नई-नई मशीने और दुनिया देखकर चौंक जाता है. एक बार उसकी ड्यूटी आदिवासी क्षेत्र में लग जाती है. वह अपने मताहत अधिकारी और अन्य साथियों के साथ आदिवासी क्षेत्र में जाता है. यह पुलिस तीन आदिवासियों से उग्रवादी के रूप में पूछताछ करती है. जब कुछ समझ में नहीं आता तो इन्हें थोड़ी दूर ले जाकर गोली मार देती है. फिर सुबह अखबारों में उग्रवादियों के साथ मुठभेड़ दिखाई जाती है और इन गरीब किसानों को जो आदिवासी के रूप में अभी तक जिन्दा थे, उन्हीं का टिकहनुमा फ़ोटो भी छापती है. मारकुश को इस घटना से अपने माता-पिता की याद आती है, उसका आत्मसम्मान जग जाता है, वह सोचता है इसी तरह मेरे परिवार की हत्या की गई होगी. खुद से अपनी भूमिका को लेकर सवाल पूछता है, इन तीन हत्याओं में मेरा भी तो हाथ है. उसका आत्मसम्मान सहसा जाग गया. इसी आत्मसम्मान में वह वर्दी और हथियार छोड़कर चला जाता है. शायद लेखक यह ढूँढने का प्रयास कर रहा हो कि इस आत्मसम्मान में आदिवासी एकत्र होकर व्यवस्था के खिलाफ जंग छेड देंगें. उसमें गरीब खेतिहर मजदूर किसान की बड़ी भूमिका होगी . उसके बच्चे भी शोषणकारी व्यवस्था से मुक्त होकर अपने वर्ग और समुदाय का साथ देंगें.

किसान जीवन की संरचना

सामाजिक जीवन

भारतीय समाज कई वर्गों में विभाजित है. यह वर्गीय संबंधों का विभाजन कई स्तरों पर देखा जा सकता है. यह विभाजन जाति, धर्म, वर्ण, भाषा आदि क्षेत्र के साथ साथ आर्थिक सांस्कृतिक रूप में दिख सकता है. इस विभाजन से किसान भी अछूता नहीं. "वर्गों में विभाजित समाज में वर्गों के बीच सिर्फ आर्थिक और राजनितिक सम्बन्ध ही नहीं होते, सामाजिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध भी होते हैं. किसानों के कुछ वर्गों से केवल आर्थिक सम्बन्ध भी हैं, किसान संबंधों की इस जटिलता को निभाता है."[42]

कुछ ऐसे किसान हैं जिनके पास समाज की ज्यादा जमीन पर मालिकाना हक़ होता है. जो खुद की जमीन पर भी खेती का काम नहीं करते उनका सामाजिक आर्थिक प्रभुत्व होता है. ये उच्च वर्ग और उच्च जाति से आते हैं. जिनके पास जमीन का मध्यम और कम जोत होता है, वे खुद ही खेतों में काम करते हैं. वास्तविक रूप से इन्हें ही किसान कहा सकता है. सामाजिक रूप से यह मध्यम कही जाने वाली पिछड़ी जातियों से आते हैं. इनका सामाजिक-आर्थिक वर्चस्व बढ़ने की ओर अग्रसर रहता है.

छुआछूत-अस्पृश्यता झेलने वाले किसान तीसरी श्रेणी में आते हैं, इसके पास जमीन जोतने का भी अधिकार नहीं होता, इनके पास खुद की जमीन नहीं होती है. ये अधिकतर भूमिहीन और खेतिहर मजदूर होते हैं. ये दूसरों की जमीन पर मजदूरी करते हैं. यह दलित आदिवासी समुदाय से आते हैं. इनके समुदाय के कुछ लोगों के पास थोड़ी बहुत जमीन होती है. सामाजिक रूप से ये शोषित उत्पीड़ित किसान की श्रेणी में आते हैं.

किसान सामाजिक उत्सवों और सांस्कृतिक समारोहों में बढ़ चढ़कर हिस्सा लेते हैं सामाजिक-सांस्कृतिक धार्मिक परम्परओं रीति रिवाजों को निभाने के चक्कर में किसान मुश्किलों में पड़ जाते हैं. सामाजिक भेदभाव से जुडी कुछ कहानियों का उल्लेख अनिवार्य हो गया है, जो कभी हंस पत्रिका में छपी थी. 'सिलसिला' आत्मा सम्मान की कहानी है. 'सिलसिला' कहानी में 'उदय कुमार' नामक पात्र से शोषण

और गैरबराबरी के सिलसिले को तोड़ता हुआ दिखाता है. जहाँ शोषण को जायज और वैधानिक बनाने की प्रथा रही है वहां इसे कोई तो तोड़ेगा वह हित के विपरीत होगा. इसको खुरापात और मनुष्य को आपस में बांटने वाला लगेगा. समाज पहले से ही जाति ओर वर्ग में बंटा हुआ है , दुनियां का हर समाज किसी न किसी रूप में आपस में बंटा हुआ है. पढ़ा लिखा नवयुवक उदय कुमार जो मझोले किसान महेश का बेटा है. महेश का बेटा भूमिहीन दलित, पिछड़ों को उनकी जमीन में हिस्सा दिलाने की बात करता हैं, महेश को 'बड़के लोग' से लेकर थाने के बाबू तक समझाते हैं. गाँव के ढोलन शुकुल समझाते हैं. "महेश चौधरी तुम तो अपने आदमी हो. हम सब मिल त्यौहर के रहे. गाँव में गिरोह बनाना, रात को मीटिंग करना, इन सबसे तो आपसी मनमुटाव ही बढेगा. गाँव अशांत होगा. अपने उदइया को काबू में रखो, वरना उसकी संगति खराब लोगों से बढ़ रही है."[43] इसी तरह ढोलन सुकुल महेश दरोगा के हवाले से कहते हैं – "एक दिन मैं सड़क पर था दरोगा जी मोटरसाइकिल पर जा रहे थे. मुझे देखकर रुक गए. अकेले में ले जाकर बोले, ढोलन बाबा, आपके गाँव में गलत आदमी आ रहे हैं. अच्छा ये बताइए के महेश चौधरी का लड़का उदय किस लाइन का आदमी है? मैंने फट से कह डाला, नहीं साहब चौधरी मानिंद किसान हैं उनके घर-परिवार के लड़के पढ़ते-लिखते हैं. हमारे गाँव में छोटे बड़े की भावना नहीं है.. . . आइंदा से उदय पर अंकुश रखो न ही तो अपने जाएगा ही तुम्हारा मुँह भी काला करा देगा. तुम्हीं बताओ चोधरी, तुम्हारे खेत के सामने कोई दूसरा अपना माल-मवेशी बाँधने लगे तो तुम्हें कैसा लगेगा".[44]तुम्हारे खेत आए कहाँ से, यह प्रश्न लेखक समाज के समक्ष लाकर खड़ा करता है.

दूसरी सामाजिकता के आवरण से बँधी कहानी 'बिरादरी मदारी की बंदरिया' है जिसके रचनाकार सत्यनारायण पटेल हैं. इस कहानी में गरीब खेतिहर मजदूर की कहानी है. जनैसर उसकी पत्नी कैसर और बेटी कला के जीवन के इर्द-गिर्द कहानी का ताना-बाना बुना गया है. इस कहानी में एक मास्टर हैं जो गाँव में सामाजिक-आर्थिक असमानता और शोषण के खिलाफ जनता को एकजुट करता है.

इन भूमिहीन मजदूरों का इस मास्टर से सम्पर्क बढ़चा है. कहानी में लेखक दबंग के रूप में बड़े किसानों के दिखलाता है. कहानी में इन बड़े किसानों के साथ भूमिहीन मजदूरों के अन्तर्विरोध को

दिखाता है. उससे लड़ने के लिए भूमिहीन मजदूर जागरुक और प्रशिक्षित हो रहे हैं. कहानी में मुख्य अन्तर्विरोध अपनी जाति तथा समाज के समृद्ध एवं उस समृद्धता पर पलने वाले पालतू लोगों और गरीब भूमिहीन मजदूरों का है. इस अन्तर्विरोध का अंत भूमिहीन मजदूरों की एकजुटता के साथ प्रतिरोध के संकल्प के साथ होता है. यह संकल्प अपने और बाहर दोनों के द्वारा सताए गए 'सताह' लोगों की बातों के साथ पूरा होता है. "जुल्म और अन्याय तो अन्याय है वह दबंग करे या जात का.''[45]

इस अन्याय के खिलाफ सब एक हो गए. कहानी में सभी 'शताह' लोग मिलकर गाते हुए सुन्दर भविष्य की कल्पना में खो जाते हैं. ''गब्बू के सुर में जना,कैसर, कला, बलबीर सुगन औ जमना के आदमी का सुर एकमेक होने लगा. धीरे-धीरे पूरी जात-बेजात समूह में बदल गई. हवा में एक अजीब सी ताजगी बह चली बादल छूट गए. चमचमाती धूप पतराम, रामचरण और जग्गू-भग्गू कहीं नजर नहीं आ रहे थे.''[46] इस खुशी और ताजगी को लेखक मेहनतकश जनता की जीत दिखाता है यहाँ ये शोषक दमन और जुल्म, इस संघर्ष से खत्म गो जाएगा. नये समाज में शोषक नहीं रहेंगे. ऐसा कहानीकार सपना देखता है जो होने की संभावना से भरा हुआ है.

आर्थिक

किसानों की आर्थिक हैसियत भी अलग-अलग है. आर्थिक स्थिति का आकलन करते हुए किसानों की कई श्रेणियाँ बन सकती है. भारत के सरकार के 'नेशनल सेम्पल सर्वे' के आंकड़ों से पता चलता है के "भारत के गाँवों में लगभग 12 प्रतिशत ऐसे परिवार हैं जो भूमिहीन हैं. 48 प्रतिशत ऐसे परिवार हैं जिनके पास ढाई एकड़ से कम जमीन है. इन्हें हम छोटे किसान कह सकते हैं. 20 एकड़ से अधिक जमीन वाले किसान परिवारों की संख्या 5 प्रतिशत है. ये 5 प्रतिशत परिवार करीब 37 जमीन के मालिक हैं. 48 प्रतिशत परिवार केवल 7. 5 प्रतिशत जमीन के अधिकारी हैं".[47]

बड़े और छोटे किसानों के बीच के किसान को मध्यम किसान कह सकते हैं. बड़े किसान मुख्यत: मजदूर रखकर खेती करवाते हैं अथवा अपने खेतों को लगान (मनी) या बटाई पर छोटे और मध्यम किसानों को देते हैं. आर्थिक आधार पर किसानों की मुख्यत: तीन श्रेणियाँ हैं. (1) धनी किसान (2) मध्यम किसान और (3) गरीब किसान. इन किसानों की श्रेणियों का विभाजन आर्थिक रूप से होता है. जिसके पास जमीन का ज्यादा भाग है वह धनी किसान है. और जिसके पास कम भाग है उसे मध्यम और जिसके पास मध्यम किसान से भी कम जमीन है या नहीं है, वह गरीब किसान गरीब किसान की दो श्रेणियाँ हो सकती हैं, अर्धभूमिहीन और भूमिहीन. पहले वर्ग वाले गरीब किसान के पास थोड़ी जमीन और थोड़ी राशि होती है, जिन्हें गुजारे के लिए दूसरे की जमीन पर अन्य काम भी करने पड़ते हैं. दूसरा वर्ग पूर्णतया निर्धन है. जिनके पास न जमीन है, न पैसा है, न जीविका का कोई साधन. इन्हें अपना घर छोड़कर भाड़े पर दूसरों की मजदूरी करनी पड़ती है. इन सभी स्थितियों का अहसास हमें हंस में छपी कुछ कहानियों से होता है –

अगस्त, 2006 में हंस पत्रिका में 'हरिभटनागर' की कहानी 'सेवड़ी रोटियाँ और जले आलू' 'प्रकाशित हुई. यह कहानी भूमिहीन गरीब किसान की आर्थिक स्थिति को बंया करती है. इस कहानी में इतनी संवेदना है कि आर्थिक तंगी का आभास अपने कुछ अंशों से बता देने की क्षमता रखती है. इस कहानी में पति, बच्चे और पत्नी को छोड़कर काम पर जाता है. लेखक कहता है कि वह बारह से सोलह घंटा कार्य करता है. फिर भी पेट भर भोजन नसीब नहीं होता. एक दिन 'नगीना सेठ' के यहाँ से शादी का खाना बतौर बयाना भेजा गया. पकवान देखकर पत्नी बहुत खुश हुई. वह उस पकवान के सहारे 'तीज-त्यौहार' जैसा उत्सव मनाने लगी घर की 'लीपा-पोती' साफ-सफाई करने लगी. उसने पति केसाथ भोजन की ठानी. अच्छे पकवान देखकर बच्चे और अपने खुद की भूख की इच्छा को मारती रही.

पति आज रोजाना की अपेक्षा ज्यादा देर से घर आया. खुद सारा पकवान खा गया. पत्नी अपने पति से बोलती है – ''सेठ नगीना के यहाँ से पकवान आए तू कुछ बोला ही नहीं चर गया जानवरों की तरह. . . आदमी कुहनियों के बल उठता हुआ आश्चर्य से बोला, सेठ नगीना के यहाँ से पकवान! जैसे उसे विश्वास न आ रहा हो. फिर यकायक बोला, तूने दिये क्यों नहीं? पत्नी आंखें तरेर कर झुंझलाते हुए बोली,

और तूने जो खाया? पकवान ही तो थे! आदमी ने कुहनियाँ ढीली छोड़ दी. मरदार आवाज में कहा, मझे तो ऐसा कुछ नहीं लगा. उसने बुरा सा मुंह बनाया, सेवड़ी रोटियाँ और जले आलू के सिवा. . . औरत का दिल बैठ गया. उसने मत्था पीट लिया और रो पड़ी.''[34] उसका पति काम करते-करते मशीन हो गया. स्वाद भी भूल गया. भूख, पेटभर खाना ही जीवन का स्वाद बनकर रह गया. समाज में मशीनी और संवेदना की शून्यता को लेखक बखूबी दिखाता है. यह एक पति-पत्नी के माध्यम से करोड़ों गरीबों की कहानी है. उनके जीवन की समस्या बहुतों की समस्या है.यह समाज का यथार्थ है. अमानुषिक जिन्दगी से कैसे बाहर निकला जाए? ये पाठक पर छोड़ देता है, फिलहाल लेखक हताश से टूटी और निराश जनता की अभिव्यक्ति करता है.

अगली कहानी 'बाजार में रामधन' है जो कैलाश बनवासी की रचना और यह हंस, अगस्त 2006 में छपी है. कहानी में लेखक 'अर्धभूमिहीन किसान' की कहानी कहता है. समकालीन दौर में किसान बाजार के हवाले हो गया. जहाँ खेती के उत्पाद से दो जून रोटी भी नसीब नहीं होती. उदारीकरण से हमारे समाज में बाजार के लिए उपर्युक्त माहौल बन गया. जहाँ बाजार के उत्पादकों का ही मूल्य है. किसान के उत्पाद और श्रम का कुछ भी मूल्य नहीं बचा, वह शोषण और जुल्म का शिकार है. कहीं-कहीं ये जुल्म तीक्ष्ण और प्रत्यक्ष दिखता है. और कहीं-कहीं यह शांत और संरचना में गुथा हुआ रहता है. रामधन दो एकड़ जमीन का मालिक है. उसका एक भाई, माँ, पत्नी और बच्चे हैं. भाई बारहवीं तक पढ़ा है उसे नौकरी नहीं मिलती. वह छोटा-मोटा धन्धा करना चाहता है मगर धन्धे के लिए घर में पैसा नहीं है. पैसा के रूप में एक मात्र संपत्ति बैल है. पैसा उन्हें बेचकर ही आ सकता है. रामधन का बैलों की जोड़ी के साथ आत्मीय लगाव है. '' अब ये कैसे समझता इस बात को कि बैल हमारे घर की इज्जत हैं. . . घर की शोभा है और इससे बढ़कर हमारे पिता की घरोहर हैं.. . . उस किसान का भी मान है समाज में जिसके घर एक जोड़ी बैल नहीं. कैसे समझाता कि हमारे साथ रहते-रहते ये भी घर के सदस्य हो गए हैं. जो भी रूखा-सूखा पेज पसिया मिलता है उसी पर खुश रहते हैं. वह मुन्ना से कहना चाहता था तुमको इनका बेकार बंधा रहना दिखता है मगर इनकी सेवा नहीं दिखती? इनकी दया-माया नहीं दिखती.''[49]

समकालीन समय में किसान की संवेदना बच पा रही है? वह अपनी पुरानी परम्पराओं को नहीं निभा पा रहा है. न मरजाद बचा पा रहा है, न जिंदगी. भोतिक हालात ही ऐसा बन गया है. बैल नहीं बेचना चाह रहा है, "बैल कह रहे हैं आखिर तुम हमें बचाओगे रामधन? कब तक?. . . जवाब में रामधन एक बात अपने बैलों से कह रहा है – ''देखो. . . हो सकता है अगली हाट में मुन्ना तुम्हें लेकर आए?. बीड़ी का यह आखिरी कश था और वह बुझने लगी."[50] लेखक समाज का यथार्थ रख देता है. यह बीड़ी की आखिरी कश रामधन जैसे किसानों के जीवन की आखिरी कश होती है. इस यथार्थ से किसानों को मुकाबला करते हुए रास्ते निकालने होंगे.

'तराश' कहानी पुन्नी सिंह द्वारा रचित है जो सितम्बर 2006 (हंस) में प्रकाशित हुई थी. इस कहानी में लेखक मध्यम किसानों की समस्या उठता है. किस तरह किसानों में संपत्ति को लेकर आपसी अंतर्विरोध है. इसका फायदा सरकारी विभागों के कर्मचारी से लेकर गांव के बड़े किसान तक उठाते हैं. इस कहानी में दो भाई जमीन को लेकर आपस में झगडा करते हैं. ये दो भईयों के बीच फौजदारी का मामला बनता है. (इस वर्ग के किसान भी कभी कभी छोटी छोटी बातों को लेकर आपस में लड़ाई करते हैं.) इन किसानों की मेहनत की कमाई कोर्ट-कचहरी और पुलिस को घूस के रूप में जाने लगती है. किसान धीरे धीरे कंगाली की अवस्था में चले जाते हैं और मजबूर होकर मजदूर बनने लगते हैं.

कहानी में जमीन के लिए झगडा करने के बाद एक भाई पुलिस में रिपोर्ट कर देता है. इसके बाद पुलिस तफतीश पर जाती है. "पुलिसवाले आपस में बात करते हुए कहते हैं दोनों भाइयों के पास खूब माल है, हर साल एक डेढ़ लाख की सरसों बेचते हैं. रोजाना दोनों के एक दो कुंतल दूध होता है. . . लेकिन ये दोनों खरे पानी के हैं. जो एकमत से दुहोगे तो सेट सेट दुह जाएंगे".[51]आज मध्यम किसानों की ऐसी ही स्थिति देखने को मिलती है. आपस में अहम् टकराता है. आपसी हित टकराते हैं. व्यव्वस्था में किसानों के लिए अवसर ही नहीं है, इसीलिए वे एक दुसरे को पछाड़कर अमीर बनना चाहते हैं. वे अपने श्रम और उत्पादन के शोषण को समझ ही नहीं पाते हैं. इतनी चेतना ही विकसित नहीं हो पा रही है कि किसान अपने वर्ग मित्र और वर्ग शत्रु को नहीं पहचान पाते हैं. ,फिर वे अपने दुश्मनों से कैसे लड़ेंगें.

स्त्री

वर्गों में बंटे समाज में सभी कुछ साफ-साफ बँटा हुआ है. स्त्री, जमींदार, शासक, पूँजीपति और मजदूर किसान भी हैं. फिर भी एक औरत के रूप में हर जगह और आमतौर पर उसके अस्तित्व को दबाकर रखा जाता है. हर जगह उसे पुरुष के अस्तित्व का एक अंग मात्र माना जाता है और उसकी स्वायत्तता को नकारा जाता है. आज नारीवाद ने उसकी स्वायत्तता के सवाल को उठाया है तो यह लाजिमी है कि हम हंस पत्रिका की कहानी पर स्त्री संदर्भ को लेकर विचार करें.

'चोणी' कहानी 'हरभगवान चावला' ने पंजाब हरियाणा में कपास के खेतों में काम करने वाली मजदूरन स्त्रियों की जीवन पर लिखी है. ये मजदूरन गरीब परिवारों से आती हैं. एक से डेढ़ महीने तक कपास के खेतों में कार्य करती हैं. अपने घरों से दूर वहीं प्रवास करती हैं जहाँ काम करती हैं. कहानी में गरीब स्त्री शोषण के कहानी कही गई है. गरीबों में सुखपाल कौर की शादी दूर के गाँवो लक्खोंवाली में हुई थी. उसका पति नसीब अपने मालिक जमींदार गुरमीत सिंह के सामने सक्खों को परोस देता था. एक दिन सक्खो ने जाने को मना कर दिया. उसके पति ने उसे मारा-पीटा, उसने भी चार-पाँच थप्पड़ जड़ दिये थे. उसने पूरे गाँव के सामने सक्खो का गला दबाकर हत्या कर दी. सक्खो की माँ को एक दुर्घटना बता दी. किसी ने कुछ नहीं कहा. सब डरते थे. जमींदार का कारिंदा था नसीब. ऊपर से नसीब अपने जमींदार के सेवा-भाव के लिए ही तो सक्खों को तैयार कर रहा था. जमींदार बड़े रसूख वाला था.

उसकी पहुँच प्रशासनिक अधिकारियों तक थी. वह कुछ भी कर सकता था. बाद में सक्खो की बहन 'वीरो' का विवाह उसी 'नसीब' के साथ तय हो गया. वीरो अपनी होने वाली ससुराल के पास ही कपास के खेत में काम करने गई. वहाँ उसे अपनी दीदी की हत्या के बारे में पता चला. फिर उसने नसीब से शादी करने का इरादा बदल दिया. उसी गाँव के एक रिश्तंदार 'गुरदीप' से शादी करके उसके घर चली गई. अपनी माँ कोभी हत्या की बात नहीं बताई. बाद में नसीब और उसकी माँ खोजते हुए पहुँच जाते हैं. लेकिन वीरो नसीब के साथ जाने से इन्कार कर देती है. नसीब जमींदार गुरमीत और पुलिस के साथ जाकर वीरो कोअपने घर ले आता है. वहाँ नसीब और गुरमीत लगातार उसका शोषण करते हैं. दोनों उसका भोग

विलासिया के साथ मनोरंजन करते हैं और सेवा टहल कराते हैं. ऐसी स्थिति में उसे न्याय मिलने की आस नहीं रहती. सब 'कुछ वैधानिक' अधिकार गुरमीत की मुट्ठी में बंद थे. वहाँ उसकी मुक्ति नसीब और गुरमीत को सजा देने से ही सुनिश्चित थी. सुनिश्चित कार्य को वीरो हकीकत में बदलते हुए दोनों की हत्य करके अपने साथी 'गुरदीप' के पास आ जाती है और आगे की लड़ाई का आह्वान करती है. यह संघर्षशील चेतनायुक्त नारी की मुक्ति की लीला है जिसे अपने पति के वैद्य सामाजिक अधिकार और जमींदार के शोषण को खत्म कर देती हैं. यह हत्या उसकी मुक्ति के लिए अनिवार्य विकल्प था.

स्त्री जीवन संघर्ष से संबंधित दूसरी कहानी 'बंटवारा' है जो 'राजन पराश' द्वारा रचित है – आज भी पैतृक संपत्ति पर लड़कियों का हिस्सा नहीं माना जाता. स्वाभाविकरूप से मान लिया जाता है कि फलाने व्यक्ति के बेटा नहीं है तो उसकी जमीन-जायदाद भाई व अन्य पारिवारिक सदस्य ले लेगा या संभवत: ले लेता है. वह जमीन पर अपना हक समझता है. जमीन पर महिला का मालिकाना हक न देने के पीछे व्यवस्था की बहुत बड़ी साजिश है. इस षडयंत्र के तहत स्त्री 'सामाजिक बहिष्कृत' समुदाय से प्रेम या शादी कर लेगी तो वह सम्पत्ति भी ले जाएगी. जिससे एक खास समुदाय-जाति की संपत्ति बंटने लगेगी. सम्पत्ति से ही सत्ता आती-जाती है. इसी डर से कहीं सम्पत्ति बंटने न लगे महिलाओं को सम्पत्ति में हिस्सा नहीं दिया जाता. शोषणकारी व्यवस्था के विभिन्न आयाम भी टूटने लगेंगे. इस कहानी में इसी प्रकार की सम्पत्ति का बंटवारा दिखाया गया है.

'मंगल सूत्र' कहानी की लेखिका डा बिंदु भट्ट हैं जिसका गुजराती से हिंदी अनुवाद डा मिनाक्षी जोशी ने किया. गरीब भूमिहीन मजदूर है. जिनको खेतों में काम नहीं मिल रहा है. जितने दिन मिलता है उससे जीवन की जरूरत पूरी नहीं होती इससे ये लोग शहरों में आकर मिलों में काम करते हैं. अगर ये मिलों और कारखाने बंद हो जाएंगें तो यह मजदूर कहां जाएंगे. कहानी में ऐसा ही होता है पुष्पा के पति के साथ. मिल बंद हो जाती है. घर में खाने के लाले पड़ जाते हैं. पुष्पा थोड़ी बहुत घूस देकर हथकरघा सोसाइटी ज्वाइन करके सूत काटने लगती है. उसके चार बेटियां हैं. परिवार का गुजारा मुश्किल से हो पाता है. इधर पुष्पा चाहती है की बड़ी बेटी सूत कातने के लिए बेटी की शिफारिस कैसे करे? और दूसरा नजराने के

लिए पैसा कहाँ से लाए एक समस्या और भी जुडी है की पति तैयार नहीं होगा क्योंकि बेटी काम पे जाएगी तो उसकी नाक कट जाएगी. चाहे भूखे मर जाए पर नाक न कटे. पति पुत्र चाहता है. "पुष्पा से सहवास करते हुए कहता है, बेटा ला, पुष्पा सोचती है मैं कहाँ से लाऊँ तुम ही ले आओ. बीज तो तुम ही डालते हो, पुष्प गर्भवती हो जाती, गर्भावास्ता के अनुकूल खान पान न मिलने के कारण वह बीमार हो जाती है. अस्पताल में अपनी सहेली "रज्जो" को अपना मंगलसूत्र देकर बेटी के लिए करघा में नौकरी की बात करने को कहती है."[52]

लेखिका गरीबी भुखमरी के सामने मरजाती है सामाजिक रीति रिवाज को तोडती है. जीवन बचाने के लिए प्रतीक और संस्कार टूटने लगे. यहाँ मंगलसूत्र एक प्रतीक के रूप में है. लेखिका आर्थिक तंगी के साथ स्त्री अस्तित्व और अस्मिता को पेश करती है.

सन्दर्भ

1. महावीर प्रसाद द्विवेदी: सम्पत्तिशास्त्र. 1908, पेज 111.

2. रामविलास शर्मा: महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण. 1977, पेज 22

3. प्रेमचंद्र: प्रेमाश्रम. (उपन्यास) पेज 16.

4. वीरेंदर यादव: "प्रेमचंद और भूमि समस्या". (लेख) पेज 26, हँस. नवम्बर, 2005

5. वही. 26

6. प्रेमचंद: कायाकल्प (उपन्यास) पृ. 43

इसी रीती को व्यक्त करते हुए महावीर प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं "जहाँ यह रीत है वहां जमींदार लोग काश्तकारों से मनमाना लगान लेते हैं, और एक निश्चित म्याद के बाद उन्हें जमीन से बेदखल कर सकते हैं, कोई कोई ज़मींदार सरकार को जितना लगान देते हैं उससे बहुत ज्यादा काश्तकारों से वसूल करते हैं. इससे बेचारे काश्तकारों को साल भर म्हणत करने पर भी पेट भर खाने को नहीं मिलता", महावीर प्रसाद द्विवेदी, सम्पत्तिशास्त्र. 1908 . पृ. 122.

7. प्रेमचंद: विविध प्रसंग, खंड २ पेज 506

8. पूरनचंद जोशी: भारत में भूमिसुधारों का सर्वेक्षण. पृ. 24,

9. विजयकांत: इंद्र्जाल (कहानी). पृ. 42 हंस. अगस्त. 2006

10. पूरनचंद जोशी: भारत में भूमिसुधारों का सर्वेक्षण. ग्रंथ शिल्पी. पृ.24-25.

11. एल. क्रोचर शैला: वैश्वीकरण और संबंध. एक बदलती हुई दुनियां की-
12. रोमेन कीटिल फील्ड:वैश्वीकरण के दौर में. 2009. पृ 10.

13. G. Net, कारपोरेट वैश्वीकरण, कोरिया और अंतरराष्ट्रीय मामले- नाम चाम्सकी का सनबूली के साथ साक्षात्कार, जून अंक 25, फरवरी 2006.

14. एजाज अहमद: (अनु. मनोज झा), वैश्वीकरण बनना: असंबद्धों के समाज का किसकी सदी किसकी सहस्त्राब्दी, सवांद प्रकाशन. पृ.63.

15. रामशरण जोशी (संपादक): देवीशंकर शर्मा(लेख). वैश्वीकरण के दौर में. (समयांतर पुस्तक) पृ. 102-103

16. वही. पृ.103.
17. रामशरण जोशी (संपादक): वंदना शिवा (लेख) अन्न के कानून, (समयांतर पुस्तक). पृ. 94
18. वही. पृ.94 -95

19. प्रणय कृष्ण:किसान आत्महत्याएं और कृषि संकट, (लेख) कथादेश. मई ,2012. पृ.73

20. वही. पृ.74

21. वही. पृ.73
22. वही. पृ.73
23. रामशरण जोशी (संपादक): देवीशंकर शर्मा (लेख) वैश्वीकरण के दौर में पृ. 101 (समयांतर पुस्तक)

24. वही. पृ.101
25. प्रणय कृष्ण: किसान आत्महत्याएं और कृषि संकट, (लेख). कथादेश. मई ,2012. (लेख) पृ. 141
26. श्रोत: भारतीय जनगणना 2011-12

27. प्रेमचंद: विविध प्रसंग. खंड २ पेज 443

28. विजय कुमार: आधुनिक भारतीय इतिहास के साहित्यक श्रोत एक अध्ययन, पृ.152

29. रामाज्ञा शशिधर:किसान आन्दोलन की साहित्यिक जमीन. पृ. 48

30. श्रोत: भारतीय जनगणना 2011-12

31. पल्लव: कहानी का लोकतंत्र. आधार प्रकाशन पृ. 49.

32. अरुण यादव: गड़ जमीन (कहानी) हंस सितंबर 2009. पृ. 53.

33. वही. पृ. 54.

34. वही. पृ. 55.

35. अंशु मालवीय: 14 अप्रैल. (कहानी) हंस सितंबर पृ.86

36. बंजरंग बिहारी तिवारी: संघर्षशील कहानियां (लेख). हंस अगस्त 2006. पृ. 16.

37. विवेकानंद: प्रपंच तंत्र (कहानी) हंस दिसम्बर 2009 पृ. 27.

38. वही. 26.

39. वही. 26.

40. वही 27.

41. वही. 28.

42. रामबक्श जाट: प्रेमचंद और भारतीय किसान. वाणी प्रकाशन. पृ. 22

43. लल्लन प्रसाद सिहं: सिलसिला (कहानी), हंस अप्रैल 2004. पृ. 48.

44. वही. 48-49.

45. सत्यनारायण पटेल: बिरादरी मदारी की बंदरिया है. (कहानी), हंस. अगस्त, 2006. पृ. 162.

46. वही. पृ. 162

47. श्रोत; इनटरनेट, नेशनल सेंपल सर्वे.

48. हरि भटनागर: सेवड़ी, रोटियां और जले आलू. (कहानी), हंस. अगस्त, 2006. पृ. 162

49. कैलाश बनवासी: बाजार में रामधन. (कहानी) हंस. अगस्त 2006 पृ. 69.

50. वही. पृ.71.

51. पुन्नी सिंह: तराश, (कहानी). हंस. अगस्त, 2006. पृ. 135

52. बिंदु भट्ट: (अनुवाद, मीनाक्षी जोशी) मंगलसूत्र. (कहानी) हंस नवंबर 2007. पृ.62.

2. अध्याय दो: समकालीन हिंदी पत्रकारिता और किसान जीवन के सवाल

- **समयांतर**
  - **ऋण**
  - सेज
  - **नई आर्थिक नीतियां**
- हंस
  - ऋण
  - नई आर्थिक नीतियां
- **फिलहाल**
  - ऋण
  - सेज
  - नई आर्थिक नीतियां

समकालीन हिंदी पत्रिकाओं में किसान जीवन के सवालों को उठाया जा रहा है. इन सवालों में जमीन के सवाल को प्रमुखता से उठाया जा रहा है. जमीन अधिग्रहण, जमीन से किसानों की बेदखली, जमीन परती होना, जमीन बेचना, जमीन पर कब्ज़ा करना आदि जमीन से जुड़े सवालों को लेकर कुछ महत्वपूर्ण पत्रिकाएँ उठाती आ रही हैं. इन् पत्रिकाओं में संपादकीय, लेख, रिपोर्टिंग , कविता, कहानी व अन्य साहित्य विधा और बहस के रूप में जमीन के सवाल आ रहे हैं. हिंदी पत्रिकाओं में इन सवालों को प्रमुखता से छपने वाली पत्रिकाओं में समयांतर, फिलहाल, हँस पत्रिकाएं महत्वपूर्ण हैं, जिन्हें हमने इस शोध "हिन्दी पत्रकारिता और किसान जीवन के सवाल" के लिए आधार बनाया है. इन पत्रिकाओं के लेख, सम्पादकीय, बहस के माध्यम से जमीन के सवाल पर विचार करते हुए अध्ययन किया गया है.

समयांतर

समयांतर पत्रिका की शुरुआत 1970 में क्षेत्रीय पाक्षिक के रूप में हुई. तीस पैसे की कीमत पर अखबार रुपी पत्रिका तब दो साल चली. इसके बाद 1978 में पत्रिका के दो अंक निकले. फिर 21 वर्ष के लम्बे अंतराल के बाद समयांतर मासिक पत्रिका के तौर पर अक्तूबर 1999 से निकालने का प्रयास किया गया, जो निरन्तर तौर पर अब तक जारी है.

समयांतर पत्रिका में सामाजिक-आर्थिक यथार्थ के साथ-साथ वैश्विक सन्दर्भों से पाठकों का परिचय करना है. ये पत्रिका धर्मनिरपेक्ष, प्रगतिशील जनोन्मुखी विचारों की पोषक रही है. ये प्रगतिशील, उदारवाद विचारों का साझा मंच भी मुहैया कराती है. इसमें तमाम तरह के सामाजिक-आर्थिक शोषण की दर्दभरी कहानी भी दर्ज होती है. इसमें अन्य भाषाओं के महत्वपूर्ण लेख भी हिंदी में अनुवाद करके छापेजाते है. जो हिंदी पाठको को अन्य भाषाओँ के बुद्धिजीवियों के समसामयिक लेखों से संपर्क में लाया जाता है. इसमें किसान, मजदूर, अन्य उत्पीडित, शोषित वर्ग की पीड़ा को भी प्रकाश में लाया जाता है. जिसे वैकल्पिक

मीडिया का कार्य भी कहा जा जाता है. इसके 'सम्पादक पंकज बिष्ट' हैं. इसका प्रकाशन नई दिल्ली से होता है. ये मई 2012 से समयांतर की वैबसाइट पर भी उपलब्ध है.

ऋण

किसान जीवन के महत्पूर्ण सवाल में ऋण भी एक सवाल है. आज भी किसानों को ऋण की समस्या से जूझना पड़ रहा है. औपनिवेशिक कालीन भारत से आज तक किसान कर्ज के दुष्चक्र में फंसते जा रहे हैं. कर्ज का प्रभाव मध्यम, सीमान्त और भूमिहीन किसानों पर ज्यादा गहरा होता है. ये किसान ऋण अनेक कार्यों के लिए मजबूरी वश लेते हैं. जिसकी दर बहुत ज्यादा होती है. ऋण किसानों को जहाँ जैसे जितना भी मिलता है, उसे लेकर अपने जरूरी काम में लगा देते हैं. आज भी 60 प्रतिशत असंगठित क्षेत्रों से किसान ऋण लेते हैं, जिसमें साहूकार, सूदखोर, महाजन आते है जो अपनी मानक शर्तो पर देते हैं. भले ही आज इन सूदखोर महाजनों का स्पष्ट वर्ग विभाजन धुंधला हो रहा है.

सरकारी और बैंकिंग ऋण भी भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ रहा है. जहाँ किसानों को 10 से 20 प्रतिशत घूस देकर ऋण मिलता है. ऋण लेते वक़्त कुल मूलधन से कमीशन ले ली जाती है. ऋण के बदले में जमानत के तौर पर जमीन आदि सम्पति गिरबी रखने के कारण इस सरकारी ऋण का लाभ बड़े किसान ही उठाते है. जो बाद में उसी ऋण के पैसों को सूद पर देने का कार्य करते हैं. लेने वालों में अधिकतर मझोले और छोटे, भूमिहीन, किसान ही होते है और ये इस कर्ज को नहीं चुका पाते हैं, इसके चलते निष्क्रिय प्रतिरोध करते हुए आत्महत्या कर लेते हैं.

भूमिहीन किसान और खेतिहर मजदूर रोजगार के अभाव में उनके पेट में जरूरत का भी अन्न नहीं पहुंच पाता है, और कहीं से ऋण न मिल पाने के कारण तड़प-तड़प कर भूख के कारण उनकी हत्या हो जाती है. उड़ीसा राज्य के संदर्भ में 'कृष्ण सिंह' अपने लेख में बताते हैं "गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों के लिए जिस बी. पी. एल कार्ड बिलो पावर्टी लाइन-गरीबी की रेखा से नीचे के लोगों को दिया जाने वाला कार्ड की जरूरत होती है वह वहां की अधिकतर गरीब जनता को उपलब्ध ही नहीं कराया गया और जिनके पास

था भी उनके पास खरीदने के लिए पैसा ही नहीं था. इस कारण 21लोगों की भूख से मौत हो गई. "[1] इस कगार पर लाखों लोग खड़े हैं. भूख से मौत नहीं है, बल्कि राज्य व्यवस्था द्वारा 'निष्क्रिय और संरचनात्मक' हत्या है.

कृषि क्षेत्र में किस तरह ऋण व अन्य सहायता को घटाया जा रहा है. इसी लेख में 'कृष्ण सिंह' आगे लिखते है " कृषि क्षेत्र में दी जाने वाली सब्सिडी को लगातार कम किया जा रहा है. बिजली की कीमतें देना छोटे व मझोले किसानों की हैसियत से लगातार बाहर होती जा रही हैं. नई नई तकनीक का इस्तेमाल करना इस वर्ग के किसानों के बूते की बात नहीं है. सरकारी समर्थन मूल्य का भी छोटे व मझोले किसानों को कोई ख़ास लाभ नहीं मिल पाता है, वैसे भी सरकारी खरीद केन्द्रों की व्यवस्था तक तक छोटे मझोले किसानों की पहुँच आसानी से नहीं बन पाती है. यह व्यवस्था गाँव गाँव तक नहीं है. ऐसे में छोटे छोटे किसानों की एक बड़ी तादाद सदा बिचौलियों के ही चंगुल में रहती है, जिससे उन्हें अपने उत्पादन का कोई लाभ नहीं मिल पाता है. इसके आलावा छोटे किसान का सब कुछ मौसम पर निर्भर करता है. मौसम ने साथ नहीं दिया तो वे लगातार कर्ज में डूबते चले जाते हैं, और आत्महत्या तक करने को विवश हो जाते हैं."[2] कृषि के दुबारा उत्पादन के लिए किसान ऋण पर ही निर्भर रहता है. उत्पादन का सही मूल्य न मिलने से किसानों को कोई लाभ नहीं होता है, जिससे किसान ऋण में ही फंसा रह जाता है.

कृषि उत्पादन लागत लगातार बढ़ रही है जिसके विषय में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री 'उत्सा पटनायक' लिखती हैं "खेती में काम आने वाली वस्तुओं के दाम लगातार बढ़ रहे है और उत्पादन कीमतों को गिरती वैश्विक कीमतों का सामना करना पड़ रहा है. इसने किसानों को कर्ज में डुबो दिया है यहाँ वे अपनी जमा पूँजी, यहाँ तक जमीन भी गवां रहे है. "[3] कृषि की आय से सामाजि सांस्कृतिक कार्य भी पूरे नहीं हो पा रहे हैं. शादी में दहेज देने जैसे सामाजिक रीति-रिवाज, परम्पराओं को निभाने के लिए भी ऋण लेना पड़ता है. पंजाब की कृषि संरचना पर 'रंजना पाढ़ी' लिखती हैं, "विवाह को सामाजिक प्रतिष्ठा का सूचक मानने की प्रवृत्ति अभी भी ख़त्म नहीं हुई . . . विडम्बना की बात है कि कन्यादान को विधिवत मान्यता दी जाती है, दहेज़ और शादी के भव्य समारोहों के जरिये गाँव के गरीबों पर सामाजिक बेड़ियों की सख्त जकड साफ़ नजर आती है.

एक क्रूर व निर्मम संस्कृतिक प्रथा के जरिये नाम और सम्मान बचाने की यह कैसी रीति है की दहेज़ देने वालों को इसकी कीमत अपनी जान से चुकानी पड़े. दहेज़ की कुप्रथा स्तिथियों को कई तरह से प्रभावित कर रही है. शादी के बाद भी बेटी के घर पैसे भेजने की प्रथा अभी जारी है. नातिन- नाती के जन्म सम्बन्धी खर्चे से भी मुक्ति नहीं. मानसा जिले (पंजाब) की भूमिहीन दलित मजदूर सोनू कौर पर 50000 रूपए का कर्ज है. 2003 में उनके बेटे ने इतना कर्ज उठाने और तीन बहनों की शादी की चिंता से हताश हो कर आत्महत्या कर ली. उनकी शादी- शुदा बेटी ने अपने परिवार में किसी शादी के लिए 30 हजार रूपए की मांग रखी और कहा की उसके बिना उनके घर आने की कोई जरूरत नहीं"[4]

भूमिहीन किसान परिवार को इन प्रथाओं की कुछ ज्यादा ही कीमत चुकानी पड़ रही है. गरीब किसान बेहाल हालातों में भी ट्यूबवेल लगाने, जमीन खरीदने, बिजली पंप लगाने, इत्यादि के नाम पर कर्ज लेकर शादी में दहेज और शादी के अन्य खर्च पूरा करते जा रहे हैं. इन वजहों से किसान अपनी जमीन, जान और जमा पूँजी सब कुछ गवां रहे है.

अत्यधिक मात्राओं में उर्वरक, खादें, रसायन दवाओं का कृषि में इस्तेमाल में हो रहा है. लगभग हर फसल में उत्पादन बढाने के लालच में किसान बिना संतुलन के इनका प्रयोग करते हैं. इन रसायन दवाओं को बेचने वाली कंपनी भी किसानों को दिग्भ्रमित करके अपनी दवाओं का सही परिचय नहीं देती है. उर्वरक, खादें, रसायन दवाओं को बेचने वाली कंपनी के द्वारा इन दवाओ व अन्य उर्वरक का कृषि में प्रयोग का संतुलन और स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता व ठोस जानकारी नहीं दी जाती है. इन उर्वरक, रसायन खादों के प्रयोग से उत्पन्न खाद्यान्न का सेवन से गंभीर व नई-नई बीमारी पैदा हो रही हैं. जिसके चंगुल में किसान फंस जा रहे हैं. इन बीमारी का सस्ता और अच्छा इलाज भी नहीं है. महँगी स्वास्थ्य सेवाओं के कारण बहुत से किसान कर्ज तले दब जाते हैं, कर्ज न मिलने पर मौत का इन्तजार में रह जाते हैं जिसके लिए महंगी दर पर मोटा कर्ज लेना पड़ता है. 'रंजना पाढ़ी' 'आत्महत्या की विरासत' लेख में लिखती है कि "बलविंदर कौर ने बताया कैसे दुकानदारों के कर्ज के साथ साथ मां के जिगर की बीमारी का इलाज करते समय वे कर्ज में डूबे. उनका कर्ज 50 हजार रूपए से कम है, लेकिन भूमिहीन खेतिहर मजदूर होने के नाते उन्हें कर्ज चुकाने

का कोई रास्ता नजर नहीं आता और माँ की सेहत अभी भी खराब है."[5] इसी तरह एक अन्य जगह के उदहारण में लेखिका बताती हैं, "कि फिरोजपुर जिले के ममदोत ब्लाक की 50 वर्षीय कुलविंदर कौर की सेहत बहुत खराब है उनके बेटे ने सन 2007 में आत्महत्या की थी. तेरह एकड़ जमीन होने के बावजूद, उनका कर्ज लगभग 6 लाख का है, जिसमें उनके ऑपरेशन का कर्ज भी शामिल है. पिछले कुछ सालों में उनके 3-4 ऑपरेशन हुए पेशाब सम्बन्धी समस्या का, आँख का और अपेंडिक्स हटाने का एक ऑपरेशन. सरकारी अस्पताल में कराया और दूसरे दो प्राइवेट अस्पतालों में तीमारदारी के खर्च के आलावा उनको 50 हजार रूपए का कर्ज उठाना पड़ा."[6]

सरकारी और सस्ती स्वास्थ्य सेवाएं बहुत ही कम मात्रा में उपलब्ध होती हैं, जहाँ ना तो अस्पताल, डॉक्टर मरीज का कोई संतुलन है और न ही उनमें सुविधाजनक इलाज ही हो पाता है. मध्यम, छोटे किसान कर्ज चुकाने के चक्कर में जमीन भी बेच देते हैं. कहीं कहीं कर्ज से आगे बढ़कर सीधे सीधे जमीन बेचकर अपना इलाज करते हैं .इस तरह जमीन से बेदखल होकर खेतिहर या औधोगिक व अन्य मजदूर बनने को विवश हो जाते हैं. किसानों का कर्ज लेने का फायदा किसे मिलता है. इसी लेख रंजना पढ़ी लिखती हैं "किसान चारों ओर से बुरी तरह घिरे हैं. खाद्य व बीज के ऊंचें दाम, सस्ता आयात, सरकारी सहायता हटाते जाना, विश्व तापमान गरमाने से मौसमी बदलाव के कारण अनिश्चित वर्षों और कई अन्य स्थितियां उन्हें चैन की सांस नहीं लेने देतीं. विविध फसल उपजाने की संभावनाएं बहुत सीमित हैं क्योंकि कर्ज लौटाने में नकदी फसल ही मुख्य रूप से काम आती है. ऐसे हालत में जो वर्ग संपन्न हो रहे हैं. वो है उधार देने वाली संस्थाएं, साहूकार और खाद,बीज तथा कीटनाशक बेचने वाले, जिनकी पौ बारह है"[7]

सेज

सेज (विशेष आर्थिक जोन) के सन्दर्भ में समयांतर पत्रिका में जनपक्षधर लेखकों और बुद्धिजीवियों के लेख लगातार छपते रहे हैं. "इन क्षेत्रों की स्थापना के सम्बन्ध में पहली नीतिगत घोषणा एन. डी. ए के शासनकाल में 1 अप्रैल 2000 में की गई जिसमें निर्यातोन्मुख उद्यमों को कुछ खास सहूलियतें देने का प्रस्ताव था. इसी सिलसिले को आगे बढाते हुए जून 2005 में U. P. A. की आम आदमी वाली सरकार

ने संसद में 'विशेष आर्थिक क्षेत्र कानून' पेश किया जो बिना किसी विशेष बहस मुबाहिसे के आम सहमति से पारित हो गया. देश के आर्थिक विकास की गति तेज करने के लिए निर्यातोन्मुखी उद्यमों के उत्पादन को प्रोत्साहित करने हेतु मुक्त वातावरण उपलब्ध करने के नाम पर यह दरअसल देशी-विदेशी उद्योगपतियों को रेवडियां बांटने और किसानों से बेहद सस्ती कीमतों पर जमीन हासिल करने के जनविरोधी कारनामे को राजव्यवस्था की देखरेख में अंजाम देने की शर्मनाक कोशिश है. "[8]

सेज (विशेष आर्थिक क्षेत्र कानून) 'देश हित' में बताया जाता है. इस कानून से देश में औद्योगिक विकास होगा, जिससे खुशहाली आएगी, जनता को रोजगार मिलेगा. लोगों की जरूरत,रोजगार और विकास के लिए सेज अति आवश्यक है. इसका कानून पर 'मासूम शक' और सवाल करने वाले 'विकास', 'प्रगति', विरोधी और देशद्रोही हो जाते हैं. इस क़ानून पर निर्विवाद रूप से केंद्र और राज्य की सरकार सहमत है. थोड़ी बहुत ना-नुकुर करके क़ानून के साथ लागू करने के तरीके पर थोड़ी बहुत असहमति के साथ सभी संसदीय पार्टियां भी एक है. "भारत सरकार के विशिष्ट आर्थिक क्षेत्र क़ानून, 2005 की धारा 50 के तहत राज्य सरकारों को ऐसे कानून बनाने होंगे, जहाँ जमीन आसानी से उपलब्ध कराई जा सके."[9]

सेज के द्वारा भू-अधिग्रहण से कुछ उद्योग घरानों का ही विकास होगा. यह देश और विकास के नाम पर होगा. राजव्यवस्था की पक्षधरता की वजह से पूजीपति वर्ग सस्ती जमीन खरीदकर उसी जमीन को कई गुना ज्यादा कीमत में बेच देते है और भवन निर्माण करके भी बहुत अधिक पैसों में जमीन बेच दी जाती है. कुछ जमीन पर मल्टीप्लेक्स, माल, अन्य भवन का निर्माण होता है. इसके क़ानून और प्रचार में ही अंतर्विरोध झलकता है. "दरअसल इस आशंका के मूल में वह प्रावधान है जिसके तहत इन क्षेत्रों के अधिग्रहित जमीन का मात्र 25 फीसदी उत्पादन हेतु प्रयोग किया जाएगा शेष 75 फीसदी जमीन पर कानूनी तौर पर भवन निर्माण,मल्टीप्लेक्स, माल, गोल्फ कोर्स जैसे निर्माण किये जा सकेंगे."[10]

जब सौ फीसदी रोजगार परक जमीन पर अधिग्रहण करके 25 प्रतिशत जमीन पर उत्पादन करेंगें. यह उत्पादन भी औद्योगिक होगा, जहाँ पहले से मशीनों का अत्यधिक प्रयोग हो रहा है. वहां कैसे

जनता को उस अनुपात में रोजगार मिलेगा. जब रोजगार नहीं मिलेगा तब किसकी खुशहाली और किसके विकास के दावे की घोषणा की जा रही है.

विशेष आर्थिक क्षेत्र से किसका विकास, "ये चंद देशी-विदेशी कॉर्पोरेट घरानों का विकास है. ' 'विकास के नए दौर' के बहाने पूँजी के संचय का नया दौर' शुरू करना सरकार की मजबूरी भी है और नियति भी. विकास की कीमत किसानों और मेहनतकशों को सूली पर चढाकर वसूलना इस तंत्र का पुराना शगल रहा है. कितना अजीब है विकास. आज विकास विस्थापन का पर्यायवाची हो गया. विकास की परियोजना पूरी होने पर वह विकास हुआ भी या नहीं जिसका वादा किया गया था . इससे भी अजीब विकास के नाम पर बसे हुए लोगों को उजाड़ने वाले किसी भी तंत्र ने विकास के इस रूप का मूल्यांकन करने की जरुरत नहीं समझी और किसी को इसका अवसर भी नहीं दिया. जहाँ इस विकास की कीमत लेने और देने का पता चल सकता."[11]

सेज जैसे कानून की सच्चाई को छिपाया जा रहा है. सेज से उत्पन्न सच्चाई यह है किस किसानों की जमीन ले ली जाएँगी, किसानों को मजदूर बनाया जा रहा है. कृषि योग्य जमीन अधिग्रहण से खाद्यान उत्पादन में कमी आएगी. बेरोजगारी बढ़ेगी, विस्थापन होगा, श्रम का शोषण और कच्चे माल का दोहन होगा. "हजारों हेक्टेयर कृषि भूमि के गैर कृषि उपयोग से किसानों तथा आश्रित कृषि मजदूरों की बेरोजगारी और विस्थापन, पारिस्थितिकी असंतुलन, खाद्दान उत्पादन में कमी के फलस्वरूप इनके नियमित आयात से सरकार पर संभावित आर्थिक, राजनैतिक तथा कूटनीतिक दबाव बढेगा, देश खाद्यान्न आयात के लिए भी दूसरे देश पर निर्भर हो जाएगा जिससे देश की 'संप्रभुता' भी ख़त्म होने लगेगी. आयातशील देशों के सामने देश की राजनितिक कूटनीतिक व आर्थिक नीतियाँ लाचार हो जाएगी. पूंजिपतियों को सस्ते ऋणों के कारण बैंकों पर भारी आर्थिक बोझ बढ़ेगा. श्रम कानूनों में छूट के कारण श्रमिकों में असंतोष बढ़ेगा. खाद्यान संकट के कारण देश की गरीब जनता शोषणकारी शासक वर्ग की मोहताज हो जाएगी और देश के गरीब किसान, मजदूर पर इसका राजनैतिक असर पड़ेगा. आर्थिक वर्चस्व के चलते वर्षों से जमे-जमाए लघु उद्योगों का विनाश तथा तेजी से बेरोजगारी बढ़ेगी."[12]

समाज में 'सेज' कानून से यह सब संकट पैदा हो रहा हैं. इन संकटों को कुछ एक उदहारण देकर स्पष्ट कर देते हैं. खाद्यान संकट कैसे पैदा होते आ रहे हैं. उदहारण के लिए एक अनुमान के अनुसार हरियाणा में प्रस्तावित 'विशेष आर्थिक क्षेत्र' के लिए दी जा रही जमीन के वर्त्तमान उत्पादन में लगभग २. 4 लाख लोगों को भोजन मिलता है, ऐसे 100 अन्य क्षेत्र मिलकर २. 4 करोड़ लोगों को प्रभावित करेंगें यानी कुल जनसँख्या का तकरीबन दो प्रतिशत. भारतीय लेखा संगठन (N. S. S नेशनल सेंपल सर्वे) के "आंकड़ों के अनुसार जहाँ 1991 में प्रति व्यक्ति रोजाना खाद्यान उपलब्धता 510 ग्राम थी, 2004 में यह घटकर मात्र 463 ग्राम रह गई. विशेष आर्थिक क्षेत्रों को अगर छोड़ भी दें तो सामान्य स्तर पर हमारी आवश्यकता सन 2020 में बढ़कर 260 लाख टन हो जाने की संभावना है जबकि वर्त्तमान उत्पादन है केवल 191लाख टन, यानी 70 लाख टन की सीधी कमी. वर्त्तमान कृषि योग्य भूमि के स्तर पर भी इस अंतर को निकट भविष्य में पाट पाना बेहद मुश्किल काम है."[13] "कुल 220 जगह सेज के लिए चिन्हित की गई है. ये जगह सुविधा संपन्न नगरों, महानगरों के आसपास क्यों घोषित की गई. जमीन विकास और औद्योगिक के नाम जरूरत से ज्यादा अधिग्रहण कर ली जाती है. जितने उत्पादन कारखाने वगैरह लगाना है वो तो लगता ही है. उत्तर प्रदेश में रिलायंस (अनिल अम्बानी) ने बिजली पॉवर प्लांट के लिये 250 एकड़ की जगह पर 2500 एकड़ जमीन सरकार से मांगी जो सरकार 60 प्रतिशत सब्सिडी के साथ उपलब्ध कराई. "जबकि इस कम्पनी ने अपनी जरूरत से लगभग दस गुना जमीन ली हुई है. "[14]

बाकी बची हुई जमीन पर भवन आदि निर्माण करके हजारों लाखों गुना मुनाफे पर वही जमीन बेच दी जाएगी. आधारभूत सुविधाओं के कारण इन्हें मनमाने रेट मिल जाते हैं. इन सुविधाओं के लिए उद्योगपतियों को कुछ भी नहीं करना पड़ता है. "पहले से ही उपलब्ध उच्च स्तरीय आधारभूत सुविधाओं के चलते एक तरफ़ उन्हें इस मद में कोई खर्च नहीं करना पड़ेगा, वहीँ दूसरी तरफ़ इस भू भाग का बड़ा हिस्सा रियल स्टेट की तरह विकसित कर अंधाधुंध कमाई की जा सकेगी. भविष्य में अगर ये उद्योग असफल भी हो गए (या कर दिए गए) तो उस जमीनों को बेचकर या फिर उन पर निर्माण कर बेतहाशा धन कमाया जा सकेगा. गुजरात तथा मुंबई जैसी कई जगहों पर जबरदस्ती तालाबंदी करके जमीनों का इस तरह का उपयोग

पहले भी देखा जा चुका है. यहाँ यह भी जान लेना समीचीन होगा की देश के कई दूरदराज के क्षेत्रों में उपलब्ध कराई जा चुकी जमीनों पर उद्योगपतियों ने उद्योग लगाने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई है. उदहारण के लिए ग्वालियर में 'विशेष आर्थिक क्षेत्र' के रूप में चिन्हित जमीन का बड़ा हिस्सा कृषि हेतु अनुपयोगी है तथा शहर से दूर भी है और जमीन पर कोई विवाद भी नहीं है लेकिन सरकार के भरसक प्रयास के बाद भी यहाँ किसी ने कोई रूचि नहीं दिखाई है. "[15]

इन कानूनों के सहारे देशी-विदेशी औद्योगिक घराने प्राकृतिक सम्पदा, सार्वजनिक जमीन, खेतिहर कृषि योग्य आदि को हथिया कर अपनी समृद्धि और साम्राज्य फैलाना चाहते है. सम्पदा, जल, जंगल,जमीन पर मुट्ठी भर लोग अपने स्वामित्व के लिए क़ानून और वैधानिक मान्यताएं अपनी लाडली, चहेती सरकारों से ले लेते है. "भूमि हथियाने की लगभग लूट मची हुई है. दिल्ली जैसे महानगरों से लगे क्षेत्रों जैसे दादरी, नॉएडा और गुडगाँव आदि में यह विस्तार अपने चरम पर है. इसका शिकार सामान्यत: किसान और आदिवासी हो रहे हैं जो कि अनंतकाल से भूमि व अन्य प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर हैं. उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, पंजाब, हरियाणा, उड़ीसा पश्चिम बंगाल, मध्य प्रदेश, झारखंड, तमिलनाडु, केरल, आन्ध्र प्रदेश और छत्तीसगढ़ जैसे राज्यों के प्राकृतिक संसाधनों की लूट में अम्बानी, टाटा, जिंदल, से लेकर सलीम आदि न जाने कितने तरह के देशी-विदेशी पूंजीपति शामिल है."[16]

राजव्यवस्था और सरकारें व संस्थाएं पूंजीपति वर्ग के पक्ष में बने कानून के साथ खड़ी रहती हैं. उनके लिए कर में छूट, सब्सिडी, सुरक्षा, मनमाफिक कीमत पर माल आदि आसानी से सुलभ करा देती है, हर सुविधा का ख़याल रखा जाता है, कोई भी सरकार हो वह इन बड़े व्यापारियों का ख्याल रखने के लिए बनती है. जो कार्य व्यापारी पैसों के आधार पर नहीं कर पाते है उन्हें चुटकी में यह सरकारें कर देती है. "रिलायंस काफी अरसे से नवी मुंबई से धर्मातर बंदरगाह के बीच की लगभग 35,000 एकड़ जमीन खरीदने की कोशिश कर रहा था. इसके लिए उसने तीन से चार लाख रूपए प्रति एकड़ का प्रस्ताव रखा था, जबकि जमीन का बाजार भाव 20 से 40 लाख रूपए प्रति एकड़ के हिसाब से था. खुद रिलाइंस ने गत वर्ष नवी मुंबई से सिडको में 450 एकड़ हैक्टेयर जमीन 26 से 40 लाख रुपए प्रति एकड़ के हिसाब से खरीदी थी. जाहिर है,

किसानों ने इतनी सस्ती दरों पर जमीनें बेचने से इनकार कर दिया, लेकिन अब इसी जगह पर 'विशेष आर्थिक क्षेत्र' बनाने की घोषणा कर सरकार ने 45 गावों की जमीन के अधिग्रहण की प्रक्रिया आरम्भ कर दी है. . . . यानी बाजार की ताकतों के भरोसे जमीन हथियाने से नाकाम अम्बानी अब सरकार की मदद से वही जमीन कौड़ियों के मोल पा सकेंगे, सत्ता और पूँजी का यह अनैतिक गठजोड़ हमारे समय के भूमंलीकरण पूँजीवाद का विशिष्ट लक्षण है."[17] . . . रिलायंस के छोटे बाबु (अनिल अम्बानी) पर दादरी नॉएडा में उत्तर प्रदेश सरकार इसी तरह सस्ती जमीन मुहैया करा रही थी. "रिलायंस कंपनी को यह 60 प्रतिशत रियायत पर दी गई. उसके बाद बाजार की कीमत 50-60 प्रतिशत कम कीमत पर अधिग्रहण की कोशिश की. जिसका किसानों ने पुरजोर विरोध किया. "सरकार ने किसानों को 150 रूपए प्रति वर्ग मीटर की दर से मुआवजा देने की घोषणा की है जबकि किसान बाजार की प्रचलित कीमत 350 रूपए प्रति वर्ग मीटर की दर मुआवजा मांग कर रहे हैं. "[18]

यह राज्यव्यवस्था की सरकार अपने वर्ग दृष्टिकोण से कार्य करती है. उसमें सभी सरकारें एक जैसी है. "उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह यादव द्वारा (S. E. Z, विशेष आर्थिक क्षेत्र) के आलावा निजी क्षेत्र के 20 विशेष आर्थिक क्षेत्र के प्रस्ताव को मंजूरी दी"[19] गुजरात, केरल अनेकों राज्यों में सैंकड़ों उदाहरण मिल जाते हैं. यहाँ किसानों से जमीन छीनकर पूंजीपति के हाथ में सौंप कर अन्य सुविधाएं भी दी जाती हैं.

राज्यसत्ता सेज जैसे जगहों पर क्या-क्या छूट उपलब्ध कराती है जैसे जमीन पर कब्ज़ा दिलाने से लेकर, आधारभूत ढांचा उपलब्ध कराने उत्पादन प्रक्रिया के हर स्तर पर और फिर बाजार उपलब्ध कराने तक में सरकार इन क्षेत्रों में आने वाले उद्योग को हर संभव रियायत देंगी. इन उद्योगपतियों को राज्य के सभी करों, अधिभारों तथा अन्य शुल्क-प्रशुल्कों से छूट मिल सके और स्थानीय प्रशासन से सारे अधिकार छीन कर क्षेत्र के विकास आयुक्त को हस्तांतरित किये जा सके. ये क्षेत्र अगले 15वर्षों तक सभी करों से मुक्त रहेंगे, जिसमें पांच वर्षों तक आयकर में शत प्रतिशत छूट तथा मार्च 2009 तक आयात लाभों पर भी शत प्रतिशत छूट शामिल है, यही नहीं, इस धारा की उपधारा दो से क्षेत्र के अन्दर होने वाली संपत्ति की खरीद फरोख्त को स्टेम्प ड्यूटी से भी मुक्त रखा गया है. धारा पांच के तहत विधुत वितरण, उत्पादन सञ्चालन या उपभोग

किसी भी कर, शुल्क या अधिभार से मुक्त है तो नियम 12 के तहत वस्तुओं के आयात भी सभी करों से मुक्त रहेंगे. इन क्षेत्रों में किसी प्रकार के सेवा करों का भी प्रावधान नहीं होगा. इसके अलावा इन क्षेत्रों में श्रम कानूनों में भी ढील दिए जाने के प्रस्ताव है. जहाँ कोई व्यवस्था अपने आप के उद्योग को विकसित करने में इतनी छूट देती है, वह उद्योग भी विकास ना कर पाए तो त्रासदी ही होगी. ये छूट सरकारी खजाने से मिलती है. जहाँ सार्वजनिक संपत्ति को निजी हाथों में कुछ शब्दों के जाल के साथ सौंप दिया जाता है. मेहनतकश आवाम हाथ मलती रह जाती है.

नई आर्थिक नीतियां

नई आर्थिक नीतियों का तात्पर्य है जो हमारे आज के समय के नियम कायदे कानून बनाए हो. नई आर्थिक नीतियों में पुराने कानूनों की निरंतरता और संसोधित रूप भी हो सकता है. आर्थिक नीतियों में खेती किसानी से प्रत्यक्ष- अप्रत्यक्ष सम्बन्ध हो. यह आर्थिक नीतियां किसानों पर क्या प्रभाव डाल रही हैं. हम नई आर्थिक नीतियों कई पहलू पर अध्ययन करते हैं. ये आर्थिक नीतियां वैश्वीकरण, उदारीकरण से प्रभावित लगती हैं ये नई आर्थिक नीतियों को बनाते समय अंतर्राष्ट्रीय परिद्रश्य को ध्यान में रखा गया. अंतर्राष्ट्रीय ताकतें किस तरह नई आर्थिक नीतियां बनाने में अपने हित सुनिश्चित करती है, उसका पूरे समाज पर नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है. "1991 में कर्ज की समस्या को सुलझाने के लिए भारत सरकार द्वारा विश्व बैंक और मुद्राकोष से कठोर आर्थिक पाबंधियों के साथ कर्ज लिया. . .कर्ज तब मिलेगा जब आप उदारीकरण निजीकरण- भूमंडलीकरण और सब्सिडी कटौती पर हमारे आदेशों के अनुसार चलेंगें. इन्हीं संस्थानों के दबाव में भारत को विकासशील व निर्धन राष्ट्र विरोधी गेट संधि पर हस्ताक्षर भी करने पड़े. प्रत्यक्ष रूप से स्वीकारने की अपेक्षा इन सभी आदेशों को नई आर्थिक नीति का नाम दे दिया गया और इसे ऐसे प्रचारित किया गया कि देश में मानो आर्थिक क्रान्ति होने वाली है. ऋण मिलने से विदेशी मुद्रा संकट का हल तो अवश्य हुआ पर इसकी भारी कीमत हमें लम्बें समय तक चुकानी होगी."[20]

नई आर्थिक नीतियों को किस तरह बनाया जा रहा हैं. इन्हें परस्पर विकासगामी और देशहित में बताया गया, जबकि इन आर्थिक नीतियों का लाभ पूंजीपति वर्ग और उनकी व्यवस्था से जुड़े मुट्ठी भर लोगों को हुआ. नीतियों की कीमत बहुसंख्यक मेहनतकश अवाम चुका रही है, जिसमे मध्यम, छोटे, भूमिहीन किसान और मजदूर प्रमुख हैं. नई आर्थिक नीति के तहत कृषि उत्पाद को विश्व बाजार का हिस्सा बना लिया. आयत-निर्यात करने की छूट दी गई. घरेलू छूट (सब्सिडी) में धीरे धीरे कमी कर दी गई. कृषि और किसानों को बाजार की प्रतिस्पर्धा के लिए छोड़ दिया गया. इस प्रतिस्पर्धा में आगे बढ़ी हुई कृषि अर्थव्यवस्था को ही फायदा होना था. बाकी उन्होंने अपनी मजबूती का रौब दिखाकर अपने अनुकूल कानून भी बनवाये. पहली दृष्टि में कानून बराबरी परक लग सकते हैं, जबकि इन कानूनों की सच्चाई कुछ और ही बयां करती है. "कृषि गेट (जनरल अग्रीमेंट ट्रेड) का अंग कभी नहीं रही है. इसे उरुग्वे दौर (1998) की वार्ताओं के दौरान शामिल किया गया. कृषि पर समझौता के तीन भाग हैं.

1) व्यापार प्रतिस्पर्धा या व्यापार का उदारीकरण.

2) बाजार में पहुँच या आयात उदारीकरण.

3) घरेलू सहायता या घरेलू सब्सिडी (अनुदानों) में कमी.

इन शब्दों की लुभावनी भाषा के पीछे छोटे किसानों के समूल नाश, खाद्य संस्कृतियों और घरेलू अर्थव्यवस्थाओं को चौपट करने का बाजारवादी चेहरा है. यह देश के किसानों के खिलाफ युद्ध छेड़ना जैसा है. भारत जैसे निर्धन देश में खाद्यान के अधिकार को सुरक्षित करने के लिए जरूरी है कि रोजी रोटी को बचाया जाए, कम लागत वाली खेती को बढ़ावा दिया जाए तथा लागत को घटाने एवं बर्बादी को रोकने के लिय खाद्द्य वितरण का स्थानीकरण एवं विकेंद्रीकरण किया जाए."[21]

कृषि में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के कारण उत्पादन से सम्बंधित वस्तुओं पर एकाधिकार कुछ कंपनियों का हो रहा है. जिससे खाद, बीज, डीजल, कृषि से जुड़े उपकरण महँगे हो रहे हैं. कुछ बीजों पर पेटेंट करके बीज पर एकाधिकार कर लिया जाता है. "टिप्प समझौता विभिन्न देशों पर दबाव डालता है कि वे बीज को कृषक समुदाय की सामूहिक, सांस्कृतिक और जैवीय विरासत मानने की जगह 'मोनसेंटो' एवं

'सिंजेंटा' जैसी कंपनियों के एकाधिकार के रूप में पुन:परिभाषित करें. बीजों को बचाने और बीजों के आदान प्रदान के कृषकों के अधिकार को बौद्धिक सम्पदा की चोरी बताया जा रहा है और पेटेंट का प्रयोग कर बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ किसानों द्वारा कई हज़ारों वर्षों के दौरान विकसित ज्ञान की चोरी कर रही हैं."[22]

यह बीजों की उन्नतशील किस्में हैं, खूब पैदावार होगी, हमारे बीज का अच्छा मूल्य मिलेगा. इस तरह कंपनी अनेकों विशेषताओं को बताकर पेटेंट बीज व अन्य बीजों का प्रचार करती है. इस प्रचार के झांसें में किसान आ जाता है. पेटेंट बीजों की प्रकृति यह है की इन्हें अधिक खाद और पानी की आवश्यकता पड़ जाती है जिससे किसानों पर सिंचाई का अतिरिक्त भार बढ़ जाता है. बीजों के प्रयोग के उपरान्त किसानों को महसूस होता है कि बीजों की बताई गई विशेषताएं पूरी नहीं होती हैं. किसान अपने भाग्य और किसी न किसी तरह अपने को ही दोषी मानते हैं. बेचने वाले व्यापारियों और खुदरा व्यापारियों की कोई जिम्मेदारी सुनिश्चित नहीं होती है. इसके बाद कम्पनियाँ रसायन दवाएं खादे इन बीजों के लिए जरूरी बताते है. जो काफी महंगी होती है. किसान अच्छी और ज्यादा पैदावार की लालच में बीज खरीदने कहीं और न जाएँ इस विकल्प को भी ख़त्म कर दिए जाता है. "कम्पनियाँ अब किसानों को अधिक महंगे बीज व कृषि रसायन, ट्रेक्टर और उपभोक्ता वस्तुएं बेचेंगी. "[23]

थोड़े समय तक तो बाजार पर पकड़ बनाने के लिए उत्पादक और उपभोक्ता के बीच के सभी रिश्तों और विकल्पों को ख़त्म करने के लिए ये कम्पनियाँ सस्ते दामों पर सामान बेचेगी. इसके बाद एक बार विकल्पों के ख़त्म होने के उपरान्त वे क्रय उत्पादों के मूल्य घटा देंगी और इस तरह किसानों की आय कम हो जाएगी और क्रय की गयी वस्तुओं का मूल्य बढ़ा देती है. इसके अलावा उत्पादन लागत के दाम बढ़ा कर किसानों पर उत्पादन लागत की चीजें बेतहाशा महंगी कर देती है, क्योंकि कंपनियों का उसूल ही है की "सस्ता खरीदो, मेहँगा बेचो".

कृषि से सम्बंधित शोध संस्थान न हों. जो हैं वहां गंभीर शोध (खाद, बीज, उन्नतशील किस्म के बीज वगैरे) कार्य की संभावनाए न बचे. इन संस्थानों से साधन और संपत्ति लेकर निजी हाथों को सौंप दो. जब संपत्ति और साधन ही नहीं होंगे तो गंभीर शोध भी नहीं होंगे. फिर शोध और कृषि का विकास नहीं होगा

तब नई आर्थिक नीतियां बेरोकटोक आगे बढ़ती रहेगी. सामने से दिखने वाली कोई अड़चन और पाबन्दी भी नहीं लगेगी, व्यापारियों को निजी मुनाफा कमाने के लिए बना-बनाया संरचनागत ढांचा भी मिल जाएगा, जहाँ बिना ज्यादा खर्च के अत्यधिक मुनाफा कमाया जा सकता है. इसी सन्दर्भ में गोविन्द वल्लभपंत विश्वविद्यालय की जमीन अधिग्रहण की जा रही है.

यहाँ कृषि वैज्ञानिको ने न सिर्फ पैदावार की दृष्टि से उन्नत किस्में तैयार की बल्कि समय एवं गुणवत्ता का भी ध्यान रखा. यहीं वजह है की जहाँ पहले एक वर्ष में दो फसले तैयार होती थी वहां तीन या चार फसलें तैयार होने लगी. और यह सब पंतनगर जैसे संस्थानों से ही मुमकिन हो सका. भारत एक विशाल देश है और इसके बहुत बड़े भूभाग पर खेती एवं बागवानी की जाती है. उसको देखते हुए पन्त नगर के पास जो जमीन है वह बहुत अधिक नहीं है. देश के कृषि विश्वविद्यालय के पास इतनी जमीन तो होनी ही चाहिए और यदि सरकार उसे पूंजीपतियों को बांटती है तो क्या वह चिंता का विषय नहीं होगा? इतने विशाल देश में कृषि विकास संभव हो पाएगा. . जो भूमि उद्योगों को दी गई है वह कृषि के लिहाज से बहुत उपजाऊ थी. यह एक ऐसा संस्थान है जहाँ इंच भर जमीन भी आपको बेकार पड़ी नहीं मिलेगी. चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों से लेकर अधिकारियों तक के आवास खेतों में बने हैं. मतलब उनके आवासों के सामने विश्वविद्यालय की जमीन संकुल को दे दी गई उसमें खाद्यान्न उत्पादन तो हो ही रहा था. रुद्रपुर से पन्त नगर तक जहाँ सिडकुल विकसित किया जा रहा है उसी रोड पर आप हलद्वानी की ओर जाएंगे तो पाएंगें की काफी जंगल खड़ा हुआ है. सरकार या पूंजीवादी वहां उद्योग विकसित कर रहे है. हरिद्वार जिले में तमाम बेकार पड़ी भूमि है जिसे विकसित कर सकते थे. लेकिन उसे विकसित करने में पूँजी लगानी पड़ेगी, समय अधिक लगेगा. यहाँ उन्हें पकी-पकाई खीर मिल गई. औने पौने दामों में जमीन लुटाने पर मंत्रियों के भी घर भर जाते हैं और पूंजीपतियों की भी पौ बारह हो जाती है.

विश्वविद्यालय का ही एक कर्मचारी बताता है , "हम 1965 में यहाँ आए थे तब यूनिवर्सिटी बन रही थी. यहाँ घना जंगल था. हमने लेबरी(श्रम) कर-कर के इसे बनाया था. ऐसा कोई दिन नहीं होता था जिस दिन किसी आदमी को शेर नहीं खा जाता हो. इतने बड़े बड़े मच्छर थे जिसे मच्छर ने काट लिया, वह

मलेरिया से मर ही गया. अब ठीक ठीक पैदावार होनी शुरू हुई तो सरकार ने पूंजीपतियों को जमीन लुटा दी. विश्वविद्यालय का प्रशासन भले ही चाहता हो कि सारी जमीन पूंजीपतियों को सौंप दी जाए, ताकि शोध-वोध का चक्कर से छुट्टी पाकर मौज करे. "[24]

नई आर्थिक नीतियों के तहत विकासशील देशों की सरकारों पर विकसित देशों ने दबाव बनाया. कृषि की जगह औद्योगिक विकास पर ध्यान दो. कृषि पर एक निर्धारित सीमा तक सब्सिडी दो. धीरे धीरे इन देशों का हित दिखाकर अपने हित में नीतियां बनवा ली गई. लालच देकर, लाभ दिखाकर भारत में नगदी फसलों को उगाने का चलन बढ़ा दिया गया. धनी देश दूसरी तरफ़ अपने किसानों के लिए कृषि सब्सिडी में बढ़ोतरी करते रहे.

सब्सिडी में कटौती के अपने वादे में चालाकी से किये गए जोड़तोड़ असल में विकसित देशों के किसानों की मदद बढ़ी है. "अमेरिका 1996 में मात्र नौ लाख किसानों की सब्सिडी 700 गुना बढ़ी. दो साल पहले राष्ट्रपति बिल क्लिंटन के सत्ता से हटने से अमेरिका द्वारा अपने किसानों को 26 अरब अतरिक्त राशि दी गई. उनके उत्तराधिकारी जॉर्ज. डब्ल्यु. बुश ने एक अप्रैल, 2002 में किसानों के लिए अगले दस सालों के बाबत 180 अरब डॉलर की और राशि दी, जिसमें से सौ अरब पहले तीन सालों में दी जाती थी. वास्तविक अर्थों में देखा जाए तो विकसित देशों में कृषि सहयाता 1998 में आठ फीसदी चढ़ी जोकि 363 अरब अमेरिकी डालर या फिर दुसरे शब्दों में कहें तो एक अरब अमेरिका डालर प्रतिदिन की चौंका देने वाली संख्या तक पहुंची"[25] इसी तरह की यूरोप यूनियन व कनाडा की स्थिति है. यूरोपियन संघ (ई. यू) में आम कृषि नीति के तहत मार्च, 1999 में शुरू किये गए सुधारों के बाद किसानों को सीधा भुगतान आज अनाज उत्पादकों की कुल आय का 126 फीसदी और गोजातीय मांस उत्पादकों के लिए 129 फीसदी है, और यह सब ब्लू बॉक्स के तहत आता है. नए यूरोपीय संघ कामन एग्रीकल्चर पालिसी सुधार प्रस्ताव, जो कि कानकुन डब्ल्यू. टी. ओ मंत्रिस्तरीय बैठक से पहले घोषित किये गए, में भी कटौती वादों में कोई जबरदस्त फेरबदल की कोशिश नहीं हुई है. अमेरिकी तर्ज पर चला जाए तो उसने अपनी अधिकतम 'ब्लू बॉक्स' सब्सिडी को 'ग्रीन बॉक्स' में स्थान्तरित कर दिया है."[26]

यूरोपीय किसानों को 2013 तक उतनी ही राशि की सब्सिडी मिलती रहेगी जितनी उनको 2002-2003 में मिलती थी. बिल्लों की रंगीन पट्टी ग्रीन बॉक्स, ब्लू बॉक्स, एम्बर बॉक्स, अमीर देशों के लिए अपनी कृषि पर सब्सिडी बचाने के लिए और साथ ही अतिरिक्त माल को सारी दुनिया में खपाने के लिए बहुत ही सुविधाजनक रहे हैं. अगर पूरी दुनियां में वस्तुओं की कीमतों पर गौर किया जाए तो वे एक ठीक ठाक जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त नहीं हैं, असल में यह सब्सिडी ही विश्व बाजारों के प्रचलन की जिम्मेदारी हैं.

दूसरी ओर भारत में हर साल 60 करोड़ किसानों को जो कुल सब्सिडी दी जाती है वह एक अरब अमेरिकी डालर के बराबर है. भारतीय किसानों की सारी सब्सिडी निवेश के जरिये है, जबकि विकसित देशों के किसानों को सब्सिडी का बहुत बड़ा हिस्सा सीधे खेती में मदद के तौर पर है.

कृषि पर दी जाने वाली सब्सिडी सहायता पूरी खर्च करने में कोताई बरती जाती है. कृषि सब्सिडी कृषि की जगह ग्रामीण क्षेत्र के किसी अन्य कार्य के लिए खर्च की जाती है. "2002-2007 की दसवीं योजना में ग्रामीण विकास का बजटीये राशि 300,000 करोड़ रूपए से थोडा ऊपर रखी गई है. योजनाकाल के तीन साल समाप्त हो चुके हैं. और अब तक मात्र 100000 करोड़ रूपए खर्च किये गए हैं. . . . दसवीं योजना के पूरे व्यय लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बचे हुए दो सालों 2005-06 और 2006-07 के दौरान कम से कम 100000 करोड़ रूपए प्रतिवर्ष खर्च करने होंगे . इसमें से 3000 करोड़ रूपए तक राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी पर खर्च किये जाने चाहिए तथा शेष राशि कृषि, ग्रामीण विकास, सिंचाई और ग्राम उद्योग के अत्यावश्यक विकास की जरूरतों पर खर्च होना चाहिए".[27]

किसान अपनी फसल को सही तरह से नहीं बेच पाते हैं. सरकारी मूल्य और खरीद केन्द्रों का किसानों को ज्यादा सहायता नही मिल पाती है. इस कारण से मध्यम किसान के लिए संकट पैदा हो जाता है. सही रख रखाव न होने की वजह से लाखों टन खाद्यान्न मिलों में सड़ जाता है. देश की खाद्यान्न निर्भरता अन्य देशों पर हो जाती है, और खाद्यान्न आयात करना पड़ता है.

"एस. सी. आई के बंद खरीद केन्द्रों को फिर से खोलने की मांग की गयी है. किसान करीब डेढ़ सौ रूपए प्रति क्विंटल के घाटे पर व्यापारियों को सस्ते गेहूं बेचने को मजबूर हैं. जबकि चोर रास्ते से बाहर का गेहूं क्रय केन्द्रों पर नेताओं और अफसरों की मिली भगत से तौला जा रहा है, उसके भुगतान का संकट अलग है. दिनेशपुर क्षेत्र में पचास से ज्यादा गाँव के लिए सिर्फ चार क्रय केंद्र में से सिर्फ तीन चल रहे हैं. इस पर यह है कि इनमें से एक भी केंद्र एफ़सीआई का नहीं है. ऊपर से आठ दस दिन तक गेहूं की रखवाली के बावजूद अभी तक तौल का इन्तेजाम नहीं हो पाया."[28]

नई आर्थिक नीतियों के तहत विश्व व्यापार संगठन ने कृषि के उत्पाद बेचने के लिए पूरी दुनिया के सदस्य देशों को अपने यहाँ के बाजार खोलने के लिए कहा- "डब्लू. टी. ओ चाहता था कि हर कृषि उत्पादक के लिए सभी देश विकसित देशों के लिए पांच प्रतिशत और विकासशील देशों के लिए कम से कम चार प्ररतिशत बाजार सुलभ कराने की इजाजत दें" [29]

बाजार की खुली प्रतिस्पर्धा का स्वांग रचा जा रहा है. जहाँ एक तरफ़ गरीब देशों के किसानों को सब्सिडी व अन्य सुविधाओं से वंचित करके कृषि सम्बंधित महंगें उत्पाद बेचे जा रहे हैं. गरीब देश के गरीब किसान इन्हें खरीदने को विवश हो रहे हैं, वहीं दूसरी तरफ़ अमीर देश अपने किसानों के जरूरत की हर सुविधा मुहैया करा रहे हैं फिर भी गरीब देशों को आयात शुल्क हटाने के लिए दबाव भी डालते हैं. एक हद तक विकासशील देशों की सरकारें विकसित देशों के आगे झुक जाती है जिससे अमीर देश और उनके कृषक व्यापारी अपने हित पूरे कर लेते हैं. इसकी कीमत गरीब देशों की गरीब जनता अपनी जान देकर इस जंजाल से मुक्त हो पाती है.

भारत पर दबाव डाला गया है की 1 अप्रैल 2001 तक वह कृषि आधारित वस्तुओं और उत्पादों पर मात्रात्मक प्रतिबंधों को या तो हटा दे या समाप्त कर दे, इसीलिए भारत ने अपने बाजार खोल दिए और इसके बदले में कृषक समाज को बहुत ज्यादा सब्सिडी प्राप्त उत्पादों के आयात के आगे निस्सहाय छोड़ दिया. पहले ही पिस्ता मसाले, सेव, रबड़, चाय, कॉफी, रूई और सोयाबीन के तेल के आयात में आई तेजी चिंता का विषय बनी हुई है.

हंस

'हंस पत्रिका का प्रकाशन मुंशी प्रेमचंद ने 1930 ई. में काशी से किया. शुरु के दो वर्षों में महात्मा गांधी और कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी भी इसके संपादक मंडल में शामिल रहे. प्रेमचंद मृत्यु से पहले (अक्टूबर 1936 ई.) तक मासिक रूप से इसे नियमित निकालते रहे. इनकी मृत्यु के बाद प्रसिद्ध कथाकार जैनेंद्र कुमार और प्रेमचंद की पत्नी शिवरानी देवी संयुक्त रूप से इसके संपादक रहे. जैनेंद्र और शिवरानी देवी के बाद इसके संपादक शिवदान सिंह चौहान और श्रीपत राय और उसके बाद नरोत्तम राय और तत्पश्चात नरोत्तम नागर रहे. प्रेमचंद की मृत्यु के बाद कुछेक साल निकलने के बाद बंद हो गयी. कुछ साल के बाद फिर से निकलना शुरु हुई लेकिन इसके बाद फिर से बंद हुई. लंबे समय बाद सन 1959 में हंस का एक वृहद संकलन सामने आया, जिसमें बालकृष्ण राव और अमृत राय के संयुक्त संपादन में आधुनिक साहित्य एवं उससे संबंधित नवीन मूल्यों पर विचार किया गया था. प्रेमचंद की मृत्यु की अर्द्धसती पर अगस्त 1986 में हंस को पुन: शुरु किया गया, इस बार इसके संपादन और प्रकाशन का कार्य राजेंद्र यादव ने संभाला जिसे वे 27 साल से ज्यादा अपनी मृत्यु से पहले 28 अक्टूबर 2013 ई. तक करते रहे और हंस के 325 अंको का संपादन किया. फिलहाल कथाकार संजय सहाय हंस के संपादक है'.[30]

प्रेमचंद के समय हंस में साहित्यक लेखनी की प्रधानता थी. उस समय विधा के नाम से अंक निकालते थे. कुछ महत्वपूर्ण अंक विशेषांकों में निकले जो बहुत महत्वपूर्ण और लोकप्रिय हुए थे. स्वयं प्रेमचंद ने 1933 में 'काशी अंक' का संपादन किया इसके बाद 'प्रेमचंद स्मृति अंक', 'एकांकी नाटक अंक', 'रेखाचित्र अंक', 'कहानी अंक', 'प्रगति अंक', तथा 'शांति अंक', विशेष उल्लेखनीय हैं.

दूसरी बार हंस पत्रिका को राजेंद्र यादव ने जीवंत बनाया. उन्होंने हंस को साहित्यिक पत्रकारिता के जगत में महत्वपूर्ण दर्जा हासिल करवाया. यह हिंदी पत्रकारिता जगत में एक परिघटना साबित हुआ. राजेंद्र यादव ने इसे शुद्ध साहित्यिक कथा पत्रिका के कलेवर से आगे बढ़ाते हुए बहुत सी बहसों का केंद्र बनाया. यह बहसे अपने समय के महत्वपूर्ण सवालों से टकराती थी. ये बहसें समाज के वंचित, उत्पीड़ित और शोषित तबकों के सवालों से टकराती थी, समाज के अल्पसंख्यकों, दलितों और स्त्रियों के हक के सवाल को

वे हिंदू समाज की बनावट के बुनियादी बिंदुओं तक ले गए. उत्पीड़न झेलने वाला वर्ग मजदूर किसान की व्यथा को भी पत्रकारिता का हिस्सा बनाया. किसान जीवन की समस्याएं, ग्रामीण संरचनाओं को कहानी, लेख, रिपोर्ट आदि के जरिए पत्रिका में शामिल किया. किसानों को जमीन से बेदखल करना चाहे यह बेदखल कर्ज के नाम से साहुकार, महाजन करता हो चाहे 'सेज' के नाम पर सरकार और पूंजीपति करता हो. जमीन बेदखली से किसान की पीड़ा संवेदना और वास्तविक यथार्थ को इस पत्रिका ने जगह दी है. राज्य सत्ता ने नयीं आर्थिक नीतियों के बहाने बड़ी सूक्ष्मता से किसानों को नीतिगत और वैधानिक तरीकों से किसानों का शोषण किया और संरचनात्क तरीके से इसे जारी रखा. इन तमाम पहलुओं को भी पत्रिका ने उठाया है.

इस पत्रिका के कई विशेषांक काफी लोकप्रिय हुए. अतिथि संपादक द्वारा निकाले गए 'औरत उत्तरकथा अंक' 'मुसलमान अंक', 'इलेक्ट्रानिक मीडिया अंक', 'स्त्री विशेषांक', 'सिनेमा अंक', 'संघर्षशील आमजन की कहानियां' वाले अंक शामिल हैं. 'आज कहां हैं प्रेमचंद के किसान, यह किसान जीवन पर आधारित अंक अगस्त- सितंबर 2006 में प्रकाशित हुए और संपादन राजेंद्र यादव ने किया था.

इस शोध के लिए 'हंस पत्रिका' के दस वर्षों 2000-2010 अंक का चुनाव किया है. इस संदर्भ में किसान जीवन से संबंधित कुल 20 लेख, 27 गोष्ठी रिपोर्ट और 15 कविताएं कुल 760 कहानियों में से 131 कहानियां ग्रामीण जीवन से संबंधित है. यहां इन लेखों में से ऋण, सेज, नईं आर्थिक नीतियों के संदर्भ में विश्लेषण करेंगें. इनका किसानों पर क्या प्रभाव पड़ रहा है, इन तमाम बातों का अध्ययन करने की कोशिश की गयी है.

ऋण

कृषि उत्पादकों से कृषि में पुन: उत्पादन की व्यवस्था नहीं हो पाती है. किसान की आमदनी से जीवन की जरूरतें भी पूरी नहीं हो पाती है. कृषि उत्पादन के लिए जरूरी और जीवन की आवश्यक चीजों के लिए किसान ऋण पर निर्भर हो जाता है. किसान का उत्पादन (माल) सस्ते में खरीदा जाता है. किसान को महंगाई का सामना करना पड़ता है. यहां औद्योगिक और बाजार की संरचना बन रही है जिसमें किसान पिस रहे हैं. देश के विभिन्न भागों में लाखों किसानों ने आत्महत्या की है. आज की स्थिति में किसान सामूहिक आत्महत्या और अपने गांव को बेचने की इज़ाजत चाहते हैं. "पंजाब के माथसिंहवाला के निवासियों ने एक बोर्ड लगाया है जिसमें उन्होंने कहा है कि वह वहां नहीं रहना चाहते, वह कोई खरीदार चाहते हैं जिससे कोई उनके गांव को खरीद सके. मलसिंहवाला के लोगों के पास अपनी जमीन है लेकिन वह कर्ज़ में इस कदर डूबे हैं कि वह गांव छोड़कर अन्यत्र जाकर मज़दूरी करने को विवश हैं. जो हाल मलसिंहवाला का है वही वहां से हज़ारों मील दूर महाराष्ट्र के डोर्ली गांव का भी है. वहां भी पेड़ों पर गांव बिकाऊ है की तख्ती लटकी मिलती है. महाराष्ट्र के ही गांव में सामुहिक आत्महत्या की इज़ाजत मागनें की बात कही गयी है. चिंगापुर के गांव के लोगों ने प्रधानमंत्री को बुलावा भेजा है, जिनकी उपस्थिति में मानवबाजार लगाकर वह अपने गुर्दे की नीलामी करेंगें."[30]

किसान नई फसल के अच्छे होने की उम्मीद से ऋण लेता है, किसान के मुताबिक उत्पादन और उत्पादन मूल्य नहीं मिलता है. फसल बर्बाद हो जाने का खतरा भी लगातार बना रहता है. फसल बर्बाद होने से किसान उत्पादन और उत्पादन मूल्य वापस नहीं मिलने की वज़ह से किसान ऋण वापस नहीं लौटा पाता. "आए दिन सूखे और बाढ़ की मार से फसल तबाह हो जाती है, फसल बीमा योजना लागू करने की बात अक्सर सुनी हो जाती है मगर व्यवहार में कुछ खास नहीं हुआ है. चारों तरफ से बटोरकर खेती में लगायी गयी पूंजी डूबने और मेहनत जाया हो किसान कर्ज के बोझ से लद जाते हैं". [31]

कर्ज न चुकाने की वजह से बैंक दुबारा कर्ज नहीं देते हैं. बैंक से कर्ज जमीन वाले किसान को ही मिलता है. इस कारण बंटाईदार कर्ज लेने से वंचित रह जाते हैं. इन तमाम स्थितियों की वजह से किसान को

महाजन पर निर्भर होना पड़ता है. "महाराष्ट्र में 75 % से भी अधिक किसान कर्ज के लिए महाजन पर निर्भर हैं".[32]

बैंक और कर्जदारों के तगादे से आत्मसमान में ठेस लगने से किसान खुदखुशी की राह पर भी चलने के लिए मजबूर हैं. किसान अपनी इस बदहाली के लिए खुद को जिम्मेदार ठहराते हैं, वे आत्महत्या की राह चुन लेते हैं. इस शांतिपूर्ण प्रतिरोध की जगह सरकार और महाजनों के खिलाफ आंदोलन करते हुए अपने जीवन का ढर्रा बदले, गहरी प्रतिरोध की संस्कृति का माडल पेश करे. पिछले कुछ वर्षो में किसानों ने कर्ज के चलते आत्महत्या की है. यह आत्महत्या नहीं बल्कि सत्ता द्वारा की गयी हत्याएं हैं. "कृषि मंत्री शरद पवार के अनुसार केंद्रीय गृहमंत्रालय 1995 से किसानों की आत्महत्या की घटनाओं को दर्ज कर रहा है. उनके अध्ययन के मुताबिक यह साफ होता है कि किसानों के आत्महत्या की गिनती में ज्यादा सतर्कता नहीं बरती गयी है. संसद में 12 मई 2006 को बताया गया कि महाराष्ट्र में 2002 में 101 किसानों ने आत्महत्या की है, जबकि 2005, 2-3 दिसंबर में बताया गया कि 2002 में केवल विदर्भ क्षेत्र में 122 किसानों ने आत्महत्या की है. आंकड़ों के पूरे खेल में ऐसा विरोधाभास देखा जा सकता है. 27 नवंबर 2000 को संसद में दिए गए आंकडे के अनुसार आंध्रप्रदेश में 22 किसानों ने आत्महत्या की है जबकि पंजाब में किसी भी किसान की आत्महत्या से इनकार किया गया है. "[33]

किसानों से जुड़े कार्यकर्ता उनके संगठन द्वारा एकत्रित किए गए आंकडे दिखाते हैं कि जिस सरकारी आंकडें में कुल आत्महत्या ज्यादा हैं. पंजाब में भारी कर्ज के चलते किसान आत्महत्या कर रहे हैं. "पंजाब में कर्ज के मामले 1997 से दर्ज हो रहे हैं. जारी हैं. 1997-2003 के दौरान कपास की फसल खराब हुई थी, इस इलाके किसानों ने बड़ी संख्या में आत्महत्या की थी. भारतीय किसान यूनियन ने 2004 में पंजाब के 300 गावों का सर्वे किया था जिसमें 3000 किसानों की खुदखुशी के मामले सामने आये थे. यूनियन के मुताबिक 1990-2013 तक सवा लाख से भी अधिक किसानों और मजदूरों ने आत्महत्या की है"[34].

पंजाब एग्रीकल्चर यूनिवर्सिटी, पंजाब यूनीवर्सिटी और गुरुनानकदेव यूनिवर्सिटी के संयुक्त सर्वे के अनुसार "2000 से 2009 तक कुल 6926 किसानों और मजदूरों ने आत्महत्या की है. इसमें से 4800

मामले कर्ज की वजह से हुए हैं. 1996 -2013 राष्ट्रीय अपराध शाखा (नेशनल क्राइम ब्यूरो) के आंकडों के मुताबिक देश भर में दो लाख 96 हजार किसान आत्महत्या कर चुके हैं. "[35] किसानों की आत्महत्या के आंकडे इस तरह से व्यक्त किए जाने लगे जैसे सरकारी विभाग प्राकृतिक आपदा और सड़क दुर्घटनाओं के आंकड़े पेश करते हों. इन हत्याओं पर किसी की संवेदना नहीं जागती. यह हत्याएं देश में बहस का विषय भी नहीं बनते. सरकार इन्हें स्वाभाविक ही दिखाने में लगी रहती है.

सत्ता की असंवेदनशीलता भी 'अनिल चमड़िया' अपने लेख में 'नई अर्थव्यवस्था में किसान की आत्महत्या' में लिखते हैं कि "पिछले दस बारह वर्षों में भारतीय संसद किसानों की लाशें गिनने वाली संस्था बन चुकी हैसबसे ज्यादा कृषि क्षेत्र के प्रतिनिधित्व करने का दावा करने वाले इस संसद में किसान की आत्महत्याओं की बाबत एक दिन भी न शोक सभा हुई और न ही अफसोस जताया गया, इस बीच संसद में न जाने किन-किन कथित मुददों पर कितनी जूतम पैजार हुआ, लेकिन उसमें किसानों के दिल दहला देने वाले सवाल गैरमौजूद थे. "[36]

नई आर्थिक नीतियां

नई आर्थिक नीतियां किसानों पर क्या प्रभाव डाल रही हैं और यह किसके पक्ष में और हित में साबित हो रही हैं. कृषि से आर्थिक सहयोग लगातार कम होता जा रहा है. "भारत में 60 से 70 प्रतिशत कृषि उत्पादन छोटे और सीमांत किसान ही करते हैं. इसके बावजूद कृषि क्षेत्र में सार्वजनिक या सरकारी निवेश घटता जा रहा है. 1985 की तुलना में यह निवेश अब 60 प्रतिशत कम है. एक शोधकर्ता के मुताबिक अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्वबैंक के मार्गदर्शन को अपनाकर जो भी सरकारें सत्ता में आयीं है उन्होंने ग्रामीण विकास पर खर्च घटाए हैं. यह वार्षिक खर्च 1985 -90 के दौरान सकल घरेलू उत्पादन का 14. 5 प्रतिशत था. जो 2000-01 में घटकर 5. 9 प्रतिशत रह गया .ग्रामीण रोजगार में वृद्धि शून्य हो गयी. अनाज की प्रतिव्यक्ति खपत 1939-44 के स्तर से भी नीचे चली गयी है. यह नियति अनर्थकारी है."[37]

सिंचाई पर सार्वजनिक निवेश बड़ी तेजी से घटता जा रहा है. बीज उर्वरक, सिंचाई और बिजली पर सब्सिडी में कटौती से उत्पादन लागत बढ़ती जा रही है लेकिन उसके अनुपात में न तो पैदावार बढ़ रही है और न ही उपज का उचित मूल्य मिल रहा है. किसान को खुले बाजार में छोड़ दिया गया है. यह महाजनों की गिरफ्त वाला बाजार किसानों को अपने अनुरूप बनाकर अपना मुनाफा कमाना चाहता है और नईं आर्थिक नीतियां भी इसी अनुरूप बनाया जा रहा है.

सरकार जो भी आर्थिक सहायता देती है उस सहायता से अत्यधिक हिस्से का फायदा बड़े भूस्वामी ही उठाते हैं. सरकार आए दिन न्यूनतम समर्थन मूल्य की घोषणा करती है, लेकिन उसका लाभ छोटे और खेतिहर किसानों को शायद ही मिल पाता है. सरकारी तंत्र की निष्कृयता और उसमें फैले भ्रष्टाचार के कारण न्यूनतम समर्थन मूल्य पर कोई खरीदार नहीं होता'' वहीं सीमांत किसान को तत्काल रुपयों की जरूरत होती है. सरकारी मूल्य पर बेचने से उन्हें पैसा देर से मिलता है. यह किसान पहले से आढ़तियों से कर्ज ले चुके होते हैं, इस कारण उन्हें बेचने के लिए बाध्य भी होते हैं. आढ़तियों का जाल काफी बड़ा है, किसान की

अदायगी आड़तियों के जरिय होती है. आड़ती तब ही किसान को भुगतान करता है जब किसान उसका कर्ज चुका देता है. सरकारी समर्थन मूल्य के आधार खरीदार केंद्रों पर ये किसान अपनी उपज नहीं बेच पाते, आढ़ती के मूल्य और और सरकारी समर्थन मूल्य में 100 से 150 रुपए प्रति कुंतल का अंतर होता है.

पंजाब कृषि विश्वविद्यालय के प्रो. सुखपाल सिहं ने पंजाब एक सर्वे में पाया कि सरकारी सहायता बड़े किसानों को ही फायदा पहुंचाती है. "पंजाब के ग्रामीण इलाकों में हमारे एस्टीमेट के मुताबिक 35,000 करोड़ रुपए का कर्जा है, इसमें से 38 प्रतिशत गैर संस्थागत कर्जा है. इसमें आढ़ती ही ज्यादा हैं, लेकिन किसानों पर कर्ज आढ़तियों का था, इसकी वजह से फसल का भुगतान आढ़तियों के जरिए होना था, जिनकी व्याज दर 18 से 30 प्रतिशत तक है, इनका व्याज दर बैंकों से ज्यादा है. सरकार ने पिछले साल 4800 करोड़ की बिजली सब्सिडी, 1000 करोड़ उर्वरक सब्सिडी और 700 करोड़ की सिंचाई सब्सिडी दी है. मुश्किल यह है कि इसका बड़ा हिस्सा सात- आठ एकड़ वाले किसानों को चला जाता है. छोटे किसानों को सब्सिडी का व्याज नहीं मिलता है".[38]

यह बिडंबना ही है कि पहले तो सब्सिडी में भारी रूप से कटौती की जाती है और जो थोड़ी बहुत दी भी जाती है उसका फायदा छोटे किसानों तक नहीं पहुंच पाता.

फिलहाल

फिलहाल पत्रिका का प्रकाशन पटना में 5 जनवरी 1972 से शुरू हुआ था. इसे शुरू करने के पीछे राजनितिक उद्देश्य था. यह पत्रिका मार्क्सवादी लेनिनवादी समूह एन. एल. डी. एफ. (नेशनल लिब्रेशन एंड डेमोक्रेटिक फ्रंट) की भूमिगत पत्रिका के रूप में प्रकाशित हुई थी. इसका सम्पादन 'वीर भारत तलवार' ने किया था. ख़ुफ़िया विभाग की निगरानी से बचने और राजसत्ता को शक ना हो कि यह भूमिगत संगठन की पत्रिका है, इस कारण से औपचारिकता वश एक सलाहकार मंडल बनाया गया जिसमें कुल छ: नाम थे.

विपिनचंद्र, रणधीर सिंह, प्रधान हरि शंकर प्रसाद, रामलखन शुक्ल, नामवर सिंह और उत्पल दत्त. उत्पल दत्त का नाम सलाहकार मंडल बनने के एक महीने बाद जुड़ा था.

"फिलहाल का पहला अंक 5 जनवरी 1972 को निकला और आखिरी 5 अप्रैल 1974 को. 20 दिसंबर 1973 तक पत्रिका आती रही. जनवरी, 1974 में इसे द्वेमसिक कर दिया गया. इस पूरी अवधि में पत्रिका के कुल 47 अंक निकले जिनमें से दो विशेषांक मई दिवस, वियतनाम तीन-तीन अंकों का एक संयुक्त अंक निकला था. पत्रिका की ग्यारह सौ प्रतियाँ छपती थी. पत्रिका का कोई भी अंक देर से नहीं निकला और न ही बिना पूर्व सूचना के कभी कोई अंक छूटा. सिर्फ एक बार 5 नवम्बर 1973 का अंक आर्थिक कठिनाइयों की वजह से नहीं निकला." [40] (टिप्पणी देखें,पृ. 93)

फिलहाल का प्रकाशन दूसरी बार दिल्ली से 1977 ई. से शुरू हुआ था. तीसरी बार 1995 ई. में पटना से शुरू हुआ, जो अब तक जारी है. पटना से फिलहाल का प्रकाशन हो, इसके लिए प्रधान हरिशंकर प्रसाद ने फिलहाल के पहले सम्पादक को चिट्ठी लिखकर उनसे क़ानूनी और नैतिक अनुमति मांगी थी. "करीब 21सालों के बाद किसी के हाथ से उन्होंने (प्रो. हरिशंकर प्रसाद) मुझे (वीर भारत तलवार) चिट्ठी भेजी कि पटने में कुछ लोग फिलहाल फिर से निकालना चाहते है, आपकी इजाजत चाहिए. उनकी शिफारिश पर मैंने ख़ुशी से अपनी रजामंदी दे दी. हालांकि इस रजामंदी का कोई कानूनी महत्व नहीं था, क्योंकि पिछले कुछ सालों की बे ठौर-ठिकाने की जिंदगी में बहुत संभालकर रखने के बावजूद फिलहाल रजिस्ट्रेशन के कागज न जाने कहाँ गुम हो गए थे. ऐसी हालत में उस रजामंदी का सिर्फ नैतिक महत्व था. ऐसी नैतिकता जो एक-दूसरे के प्रति आदर विशवास और लम्बे समय से चले आ रहे संबंधों पर आधारित थी. इस पत्रिका में तत्कालीन जन-जीवन का यथार्थवादी वर्णन था. राज्य सत्ता द्वारा हर तरह के छल कपट का बड़ी सूक्षमता से वर्णन किया जाता था. बर्बर जुल्म, शोषण, उत्पीडन, नरसंहारों और वैधानिक, ढांचागत हत्याकांडों की कहानी बयां होती थी. पत्रिका में अपने समय के साथ आने वाले कल के सवालों को भी उठाया गया था. "आज का दलित आन्दोलन 1970 के दशक के शुरू में हिंदी भाषी राज्यों में कहीं नहीं था. फिर भी उस

जमाने में फिलहाल में दलित प्रश्न पर लेख छपते थे. दलित समाज में अन्दर ही अन्दर जो बेचैनी और विद्रोह की भावना उभर रही थी, उसकी जानकारी दिल्ली में संघ सेन अपने लेखों में देते थे. "[41]

इस पत्रिका में किसी तरह की संकीर्णता नहीं, मार्क्सवादी पक्षधरता थी. "कई इलाकों के सं घर्षशील मजदूर किसान या संघर्ष कर रहे जनता के दूसरे वर्ग फिलहाल को अपना पत्र समझकर अपने संघर्षों की रिपोर्ट भेजते थे, पत्र लिखते थे.फिलहाल की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यह सिर्फ वामपंथी बुद्धिजीवियों का पत्र नहीं था. यह सचेत औद्योगिक मजदूरों की भी पत्रिका थी. यह किसानों की तो नहीं, लेकिन उनके बीच काम करने वाले क्रांतिकारियों की भी पत्रिका थी."[42] पुरानी फिलहाल के अंकों को एक साथ सम्पादन प्रो वीर भारत तलवार ने नक्सलबाड़ी के दौर में' नाम से किया है. अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटरस (प्रा) लिमिटेड. 4697/3, 21 ए अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली- 110002

'फिलहाल' पत्रिका का नाम 'संघर्ष चेतना का मुखर सहयात्री' उपनाम में बदलाव किया गया है. इसका सम्पादन का कार्य 'प्रीति सिन्हा' संभाल रही हैं. समकालीन 'फिलहाल' पत्रिका में मजदूर किसान शोषण-उत्पीडन की कहानी कही जाती है. समाज के आर्थिक सामाजिक संबंधों पर बहस भी जुड़ गई है. पहचान के रूप में शुरू हुए विमर्शों को भी जगह मिल रही है. समाज में व्याप्त हर तरह के जुल्म-शोषण का पर्दाफाश करने की कोशिश रहती है. ग्रामीण भारत में कृषि उत्पादन संबंधों को लेकर राजनीतिक बहसे कई अंकों में आती रही हैं. समाज के वास्तविक परिवर्तन के लिए संघर्षशील जनता की सच्चाई को भी पत्रिका उठाती है. समाज का क्रांतिकारी परिवर्तन किस तरह होगा, इसका विशलेषण पत्रिका द्वारा अनेक लेखों में किया जाता है. 'आजाद' भारत की गुलामी झेल रही जनता की हर संभव मुक्ति का समर्थन करती है, पत्रिका किसानों की सूक्ष्म से सूक्ष्म समस्याओं का विशलेषण किया गया है. वह किन किन समस्याओं से गुजर रहे है. उनके शोषणकारी प्रवृति के पीछे कौन सी धारा है. पत्रिका साम्राज्यवाद उत्पीडन, जुल्म, सामंती शोषण और हमले को सम्बद्ध करके जनता के सामने लाती है.

ऋण

ग्रामीण समाज में आज भी सूदखोरी का बोलबाला है. सूदखोर ऋण के क्षेत्र में वर्चस्वशाली है. बहुत बड़ी संख्या में छोटे किसान सूदखोर व्यवस्था पर निर्भर हैं. इनको सरकारी ऋण का फायदा नहीं मिलता है, ग्रामीण समाज खेतिहर मजदूर किस तरह जीवन जीते हैं. "एक बड़ी तादाद खेत मजदूरों की है. लगभग सारे के सारे अर्द्धसर्वहारा परिवार साधन की कमी से ग्रस्त रहते हैं. इस अर्थ में बिलकुल न्यूनतम जरूरतों के लिए उनके द्वारा किए जाने वाले खर्च भी उनकी आमदनी से पूरे नहीं होते. इस तरह उन्हें गाँव के धनी लोगों से कर्ज पर मजबूर होना पड़ता है, जिनमें सबसे बड़ी संख्या बड़े भू-स्वामी वर्ग ही होती है. नगद भी और उपज के रूप में भी. इन कर्जों पर तय सूद की दर बहुत ऊंची होती है, अक्सर सौ प्रतिशत सालाना जितनी ऊंची कर्ज दर पूरा सूद चुकाना भी उनके बूते से बाहर की बात होती है."[43]

इस प्रकार लिए गए ऋण से किसान तबाह हो रहे हैं. ये गरीब किसान अपना श्रम से लेकर जमीन व अन्य संपत्ति बेचकर इन सूदखोरों के चुंगल से मुक्त नहीं हो पा रहे हैं. देश के विकसित कृषि अर्थव्यवस्था वाले क्षेत्रों में सूदखोर नए पैकेज में वहीँ काम करते हैं. इस सूद से किसान शोषण के रूप में अपना श्रम और उत्पादन भी गवां रहे हैं. "हालांकि हरियाणा में बैंकों और ग्रामीण सहकारी बैंकों/समितियों का विकास हुआ. लेकिन पूरा ग्रामीण समाज भयंकर तौर पर सूदखोरी में जकड़ा हुआ है. खासतौर पर ग्रामीण मजदूर, गरीब किसान और मध्यम किसानों का बड़ा हिस्सा आढ़तियों और जमींदारों से कर्ज लेता है. . . . बैंकों से कर्ज आमतौर जमींदार और धनी किसान लेते हैं, सामान्यता: कर्ज की बड़ी रकम जैसे ट्रेक्टर, अन्य कृषि उपकरणों के लिए बैंक में जाया जाता है. स्वाभाविक है, धनी किसान और जमींदार ही ऐसा करते हैं. छोटी रकम के लिए आढतियों पर ही पूरी तरह निर्भरता है. इसका मुख्य कारण है कि बैंकों से कर्ज लेना मुश्किल होता है. बैंक में जमीन के कागज रखने पड़ते हैं. कई कानूनी मुश्किलें आती हैं. रिश्वत देनी पड़ती है. इन चक्करों में पड़ने की बजाय किसान के लिए आढती से कर्ज लेना आसान है.

आढ़ती से कर्ज पर ब्याज की दर 3 से 5 प्रतिशत मासिक (36 से 60प्रतिशत वार्षिक) है. इसका अर्थ है किसानों द्वारा पैदा किए गए अतिरिक्त का बड़ा हिस्सा आढती के पास चला जाता है. दलितों

और खेत मजदूरों को गाँव के ज़मींदारों या धनी किसानों से कर्ज लेना पड़ता है. वहां भी ब्याज की दर 3 से 5 प्रतिशत मासिक रहती है और यह राशि चक्रवृद्धि ब्याज पर लगातार बढती चली जाती है"[44]. . . सूदखोरी ग्रामीण पूँजी को चंद लोगों के पास केन्द्रित करके रखती है और बहुसंख्यक मजदूरों को जोंक की तरह चूसती चली जाती है. नतीजतन वे सदैव जीवन निर्वाह के कम साधनों के साथ और उत्पादन के न्यूनतम साधनों के साथ दयनीय परिस्तिथियों में काम करने के लिए मजबूर होते है .

इस सूदखोरी व्यवस्था राजव्यवस्था पूरा संरक्षण प्राप्त है, इसे वह विधिवत और कानूनीजामा पहनाने में लगी है. "किसी भी संसदीय राजनीति पार्टी ने इसका खुलकर विरोध नहीं किया है. "इस मामले में केंद्र सरकार ने किसानों को संरक्षण देने के बजाय उनके हितों पर हमला करने में अपने अधिकारों का खुला दुरूपयोग किया. उसने 1994 में बैंकिंग अधिनियम में ही संशोधन कर दिया. उनके अनुसार सूदखोरी के नियम या कर्ज के बारे में किसी कानूनी प्रावधान के होते हुए भी अधिक सूद लगाने के आरोप वाले मामले में अदालत का हस्तक्षेप नहीं हो सकता. इस तरह साहूकारी कानूनों का उलंघन करने वाली संस्थाओं को केंद्रीय कानून का संरक्षण मिल गया. इसका किसी राज्य ने प्रतिवाद नहीं किया. किसी राजनितिक ने भी उस पर सवाल नहीं उठाया. इस विशाल देश में उस अनाचार के खिलाफ विरोध की एक भी आवाज नहीं उठी. उनका अंजाम भुगतने वाले किसान इस सरकारी विश्वासघात से आज भी अनजान हैं. इस सन्दर्भ में सबसे अहम् सवाल यह है कि मूल ही नहीं बल्कि उस पर चक्रवृद्धि उगाही की ताकत पर मौन सवालिया निशान लगाये जिसे साम्रज्यवादी और पूंजीवादी ताकतें 'अदृश्य ध्वंसकारी मशीन' के रूप में इस्तेमाल करती हैं"[45]

इस ऋण से पूरे देश के किसान परेशान हैं, ये परेशानी इतनी ज्यादा बढ़ जा रही है, वे आत्महत्या कर लेते हैं. "देश में कर्ज में दबे सबसे ज्यादा घरों का फीसदी आंध्र प्रदेश में है जो की 82 फीसद पर है. केरल में 64 फीसद और कर्नाटक में 62 फीसद खेतिहर घर कर्ज के बोझ तले दबे हैं. यह सूची अंतहीन है. आप देख सकते हैं की आत्महत्या का मानचित्र कर्ज के मानचित्र के साथ किस तरह मेल खाता है जो इन आत्महत्याओं का सबसे बड़ा कारण है."[46]

किसान ऋण क्यों लेते हैं इस सवाल पर पीछे चर्चा कर चुके हैं, खेती बढती कृत्रिम लागत का एक बड़ा कारण माना जा रहा है. किसान, सूदखोर, महाजन और सरकारी बैंक ताकतें से अपमान और ऋण न लौटा पाने की आत्मग्लानि से आत्महत्या की राह चुन रहे हैं, जिनकी आत्महत्या होने के बाद गिनती हो जाती है. जो इस कगार पर खड़े हैं किसी तरह से जीवन काट रहे हैं. उनकी गिनती सरकार भूल जाती है. "1973 से 2003 के बीच डेढ़ लाख किसानों ने आत्महत्या की है. "[47] इसकी मुख्य वजह ऋण ही है. किसानों की आत्महत्या किसे माने किसे नहीं? उनकी गिनती में राज्यसत्ता के पास बहुत सारे मासूम तर्क है कि वे किसान नहीं है. अगर किसान है तो आत्महत्या कृषि के कारण नहीं की है, घरेलु और सामाजिक कारण से की है. यह घरेलू और सामाजिक अंतर्विरोध किसान जीवन में क्यों आता है? ये राज्यसत्ता कभी जानने और बताने की कोशिश नहीं करती है.

महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र के किसान सरकारी 'खैरात' का विरोध करते हैं. वह ऋण लेने की सम्भावना को ही ख़त्म करने की अपील करते हैं. किसान अपनी उपज की सही कीमत मांग रहे हैं , जिस वजह से उन्हें ऋण लेना ही न पड़े. अर्थशास्त्री, प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह "जब विदर्भ के किसानों के लिए 18000 करोड़ रुपयों का राहत पकेज लेकर पहली जुलाई 2006 को वहां गए थे तो किसानों ने बार बार उनसे मिन्नत की थी की उन्हें कोई दया या खैरात नहीं चाहिए. उन्हें बस अपनी उपज का वाजिब दाम चाहिए. अपना कर्ज वे खुद चुका लेंगें. सरकार ने ऐसा कुछ भी नहीं किया. नतीजा हुआ की मनमोहन सिंह के पैकेज के बाद वहां किसानों की खुदखुशी की घटनाएँ पहले से भी बढ़ गयीं. ऐसा ही चिदंबरम की कर्ज माफ़ी योजना से होने वाला है."[48]

कई सरकारी सर्वेक्षण ने बताया है कि "किसानों पर कर्ज के कुल बोझ का 57. 7 फीसदी ही बैंकों से लिया गया है और शेष 42. 3 फीसद सूदखोर महाजनों और व्यापारियों से. कुल कर्जदार किसानों में से 22 फीसद ही बैंकों के कर्जदार हैं. यानी कर्जदार किसानों में से तीन चौथाई से ज्यादा किसान सूदखोरों के कर्जदार हैं. जाहिर है कि इन सूदखोरों से लिए गए कर्ज इस कर्ज माफ़ी के दायरे से बाहर ही रहेंगें."[49]किसान

कर्ज माफ़ी, राहत से ज्यादा दिखावा था. ये वास्तविक रूप में अपर्याप्त राशि थी. इस वजह से किसान आज भी निरन्तर रूप से राज्यसत्ता द्वारा दी गई मौत की सजा झेल रहे हैं, जिसे हम आत्महत्या के रूप में जानते हैं

सेज (विशेष आर्थिक क्षेत्र)

'विशेष आर्थिक क्षेत्र' औद्योगिक कार्य के लिए उदारवादी नीतियों के तहत संचालित क्षेत्र होता है. निजी संचालित औद्योगिक कल कारखाने अपने मनमाफिक चलते हैं. कल कारखाने के आलावा शॉपिंग मॉल और उपयोग के अन्य साधन भी मौजूद रहते हैं. यहाँ कार्यरत श्रमिकों की हालत बहुत खराब है. औद्योगिक कारखाने व अन्य कार्य के लिए जमीन भी चाहिए होती है. ये जमीन विकास के नाम पर उद्योगपति लेने के अधिकारी हो जाते हैं. 'सेज' जमीन को छीनने, कब्ज़ा करने, की प्रवृत्ति को कानूनी मान्यता दिला देता है. जहाँ पूंजीपति जमीन लेने में अक्षम होते हैं, वहां उनके वर्ग हित का प्रतिनिधित्व करने वाली लाडली सरकार जमीन मुहैया करा देती है. जहाँ एक ओर किसान जमीन के लिए तरसते रहते हैं कि जमीन मिल जाती तो दो जून की रोटी का इंतजाम हो जाता है उस वक्त भूमि दिलाने के सवाल पर सरकार हाथ खड़ा कर देती है, ये जमीन पूंजीपति चाहते हैं तो किसी भी कीमत पर जितना चाहे उपलब्ध करा दी जाती है. यह ऊबड़-खाबड़ जमीन नहीं, एकदम समतल उपजाऊ जमीन के साथ ढांचागत सुविधाओं की सौगात के साथ उपलब्ध करा देती है. भूमि सुधार के तहत लाखों भूमिहीन किसानों को जमीन दिलाने की बात कही जाती है. जमीन पर मालिकाना हक़ दिलाने में राज्य सत्ता हमेशा बचती रहती है. "1947 के बाद चली तथाकथित 'किसान परियोजनाओं से विस्थापित पांच करोड़ लोगों को बसाने के लिए सरकारों को आज तक जमीन नहीं मिली है, लेकिन 300 से ज्यादा विशेष आर्थिक क्षेत्र कायम करने के लिए 3,25,000 एकड़ जमीन किसानों, आदिवासियों, दलितों, बुनकरों से छीनकर उद्योगपतियों के हवाले करने की तैयारी हो गई. बेशकीमती खनिज भंडारों से भरे झारखण्ड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा जैसे राज्यों से आदिवासियों की जमीन हड़पने के लिए देशी-विदेशी कम्पनियों के द्वारा यह सब हो रहा है. राजसत्ता के द्वारा इस मामले में यह बात कोई मायने नहीं रखती की उस राज्य में या केंद्र में किस पार्टी की सरकार है. यह सिलसिला पूरे देश में चल रहा है. नंदीग्राम, सिंगूर, लालगढ़ तो इनकी वे कड़ियाँ हैं जो इस वजह से सुर्ख़ियों में रही हैं. गरीब किसानों,

आदिवासियों की बेदखली का काम ऐसी पार्टी की सरकारों द्वारा हुआ जो मेहनतकशों की रहनुमाई का खास दावा करती हैं, लेकिन यह सिलसिला देश भर में चल रहा है. "[50]

लालगढ़ (पश्चिम बंगाल) में 'स्पेशल इकोनोमिक' के लिए जमीन किस तरह अधिग्रहण की जा रही थी. गरीब जनता की जमीन छीनकर तत्कालीन सरकार ने पूंजीपति जिंदल इस्पात को सप्रेम भेंट करने की कोशिश की. जनता ने इस नापाक इरादों के खिलाफ संघर्ष करके अपनी जमीन बचा ली. "लालगढ़ झाडग्राम शालबनी इलाकों में विशेष आर्थिक क्षेत्र की स्थापना आदिवाशियों के इसी संघर्ष से जुड़ा हुआ एक प्रशन है. लगभग 5,000 एकड़ भूमि विशेष आर्थिक क्षेत्र के लिए रेखांकित की गई है. इसमें 35,000 करोड़ लागत की जिंदल इस्पात परियोजना लगाने का प्रस्ताव है इसमें से 4,5000 एकड़ राज्य सरकार के अधिकार क्षेत्र में आता है, इसे जिंदल समूह को आवंटित किया जा चुका है. इस विशाल भूखंड का अधिकाँश भाग भूमि सुधार योजना के अंतर्गत भूमिहीन आदिवासियों को देने के लिए राज्य सरकार नीतिबद्ध है. लेकिन विशेष आर्थिक क्षेत्र घोषित होने के बाद आदिवासी मिलने वाली भूमि से ही वंचित नहीं होंगे बल्कि विस्थापन की स्थिति से भी जूझेंगें. आदिवासियों के लिए प्रस्ताविक परियोजना का विरोध कोई वैचारिक लड़ाई नहीं है. यह उनके अस्तित्व की लड़ाई है."[51] मेहनतकश संघर्षशील जनता अपने अस्तित्व की लड़ाई पूरे देश में लड़ रही है. कहीं कहीं यह जनता जीत भी जाती है लेकिन बड़े पैमाने पर सेज, राज्यसता और उदारीकरण की नीतियों की ही जीत हो रही है.

नई आर्थिक नीतियां

नई आर्थिक नीतियों के तहत कृषि की सरकारी निवेश में लगातार कटौती की जा रही है. "खेती, देहाती के विकास सिंचाई जैसे कई अहम् मदों पर खर्च वास्तव में घटा दिया गया है'. इन अहम् क्षेत्रों पर खर्च दरअसल और भी काम होगा. पिछले वित्तीय वर्षों में केंद्र सरकार ने योजना खर्च के तमाम

महत्त्वपूर्ण मदों- खेती, गावों के विकास, सिंचाई, उर्जा, उद्योग और खनिज आदि पर अपने बजट के लक्ष्य से भी काफी कम खर्च किया है. इस तरह इन क्षेत्रों को विकास के महत्त्वपूर्ण साधनों से वंचित कर दिया."[52]

नई आर्थिक नीतियों की वजह से किसान तंगहाली में जीवन गुजार रहे हैं. यहाँ तक आत्महत्या की राह चुन रहे हैं. किसान द्वारा आत्महत्या जैसे कदम उठाने के कारण 'मुंबई उच्च न्यायालय के निर्देश पर टाटा सामाजिक अनुसन्धान परिषद् ने इनकी जांच करके विस्तृत रिपोर्ट पेश की, जिसमें नई आर्थिक नीतियों को भी जिम्मेदार ठहराया गया है. "रिपोर्ट के अनुसार सिंचाई पर सार्वजनिक निवेश तेजी से घटते जा रहे हैं. बीज,उर्वरक, सिंचाई और बिजली पर सब्सिडी में कटौती से उत्पादन लागत बढती जा रही है. इसके अनुपात में न पैदावार बढ़ रही है और न ही उपज का उचित मूल्य मिल रहा है."[53]

लागत इतनी बढ़ रही है की किसान का गुजारा मुश्किल हो रहा है. "1951 में विदर्भ में एक एकड़ जमीन पर कपास की खेती के लिए डेढ़ हजार रूपए खर्च होते थे आज इसके लिए दस हजार रूपए चाहिए."[54] रासायनिक उर्वरक, खादें, बीजों का भी कोई संतुलन नहीं है. ये बहुत महंगे और नुक्सानदेय साबित हो रहे हैं. "साल 1965-1966 में रासायनिक उर्वरकों का इस्तेमाल लगभग आठ लाख टन था जो बढ़कर 2005-06 में 205 लाख टन तक पहुँच गया 'हरित क्रांति' को भी आर्थिक नीतियों के तहत लागू किया गया. जिस का नतीजा किसान, कृषि उपज का सेवन करने वाली 'निर्दोष' जनता और जमीन सब मिलकर भुगत रहे हैं. हरित क्रांति को यथार्थ में बदलने के लिए जीन संशोधित बीज और रासायनिक उर्वरकों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी. लेकिन इनका पर्यावरण पर कैसा असर पड़ेगा इस पर ध्यान नहीं दिया गया. आज ज्यादा से ज्यादा फसल लेने के चक्कर में जमीन बंजर बनती जा रही है और पानी विषैला हो रहा है. रासायनिक उर्वरकों की मांग हर साल बढती जा रही है. खेती महंगी होने का एक प्रमुख कारण यह भी है. ,,[55]

नई आर्थिक नीतियों से किसान कर्ज में धसते जा रहे हैं. वैधानिक नीतियों से उभरने का कोई रास्ता नहीं दिखाई दे रहा है. वह आत्महत्या कर रहे हैं.

सन्दर्भ

1. कृष्ण सिंह: भूख का बढ़ता साया, (लेख). समयांतर, नवंबर 2001 पृ. 10
2. वही, पृ.10-11.
3. उत्सा पटनायक:कृषि क्षेत्र: गहराते संकट की चुनौती,(लेख).समयांतर सितम्ब2005. पृ.09 .
4. रंजना पाढ़ी: आत्महत्या की विरासत (लेख),पृ. 19 समयांतर अप्रैल, 2009वही पृ. 20
5. वही पृ. 19.
6. वही पृ.20.
7. वही पृ.17.
8. अशोक कुमार पाण्डेय: बहुयामी शोषण के अभ्यारण्य, (लेख).समयांतर, नवम्बर, 2006. पृ. 22.
9. वही. पृ,22.
10. वही. पृ, 23.
11. पवन मेराज :कुशीनगर :बुद्ध की गहराती छाया में, (लेख). समयांतर, नवम्बर, 2006 पेज 26.
12. वही. पृ, 24.
13. भारतीय लेखा संगठन (N. S. S नेशनल पात्र सर्वे) पृ. 23
14. किसान आन्दोलन के मायने: (सम्पादकीय) समयांतर सितम्बर 2006 पृ. 5
15. वही. पृ. 02
16. वही. पृ. 05
17. वही. पृ. 05
18. जाहिद खान:किसान फिर लाभ पर समयांतर, पृ. 07अगस्त 2006

19. वही. पृ.07.

20. अमित बहल: आर्थिक उपनिवेशवाद का भंवर जाल, (लेख). समयांतर. नवम्बर ,2001. पृ. 15.

21. वंदना शिवा: अन्न के कानून, (लेख). समयांतर.मार्च, 2005. पृ. 97

22. वही. पृ. 93

23. वंदना शिवा:जय किसान या जय उद्योग, (लेख). समयांतर.अगस्त,2004. पृ. 08

24. रामप्रकाश अनंत: उदोग विकास के नाम बलि,(लेख).समयांतर, जुलाई 2008 पृ.

25. देविंदर शर्मा: कृषि खाध्य असुरक्षा में व्यापार, (लेख). समयांतर. मार्च, 2005 . पृ. 103-104

26. वही. पृ.26.

27. उत्सा पटनायक: कृषि क्षेत्र: गहराते संकट की चुनौती, (लेख). समयांतर. सितम्बर 2005. पृ. 10

28. पलाश विश्वास: तराई:आत्महत्या के कगार पर किसान, (लेख). समयांतर. जून, 2001. पृ. 11

29. देविंदर शर्मा: कृषि खाध्य असुरक्षा में व्यापार,(लेख). समयांतर. मार्च, 2005. पृ. 102.

30. श्रोत: हंस की वेबसाइट.

31. गिरीश मिश्रा: किसान और दूसरे 'संघर्षशील जन की आर्थिक दशा और दिशा',(लेख). हंस. अगस्त, 2006. पृ. 109.

32. वही. पृ. 108

33. जयपाल सिहं सिद्धू, चमड़िया अनिल: कृषि संबंध और उत्पादक के विभिन्न पहलू,(लेख). हंस. अगस्त,2006. पृ. 99

34. अजय शर्मा (बी. बी. सी संवाददाता):कर्ज की फसल से आत्महत्या के आंकड़ों तक होशियारपुर पंजाब, (रिप्रोर्टिगं, 2 मई 2014)

35. जुबेर अहमद: बी. बी. सी. रिपोर्ट ,11 अप्रैल 2014.

36. अनिल चमड़िया: नई अर्थव्यवस्था में किसान की आत्महत्या,(लेख). हंस. अगस्त, 2006. पृ. 113.

37. गिरीश मिश्रा: किसान और दूसरे 'संघर्षशील जन की आर्थिक दशा और दिशा',(लेख). हंस. अगस्त ,2006 पृ. 108.

38. अजय शर्मा (बी. बी. सी संवाददाता):कर्ज की फसल से आत्महत्या के आंकड़ों तक होशियारपुर पंजाब, (रिप्रोर्टिगं, 2 मई 2014)

39. नक्सलबाड़ी के दौर में', सम्पादक वीर भारत तलवार' भूमीका पेज 20, पत्रिका की छपाई के बारे में सम्पादक वीर भारत तलवार लिखते हैं "पत्रिका 16 प्रष्ठों की डबल डिमाई साइज में छपती थी. एक प्रति की कीमत 30 पैसे रखी गई. वार्षिक ग्राहक़ शुल्क 7 रु था और छमाई 3 रु 50 पैसे. डेढ़ साल के बाद महंगाई को देखते हुए कीमत 40 पैसे कर दी गई. 1974 में आखिरी दो अंक द्वैमासिक निकले, 24 प्रष्ठों के. इनकी कीमत 75 पैसे थी. . सम्पादक का अपना खर्च के साथ पत्रिका के दो का मासिक खर्च 750 रु होता था. " पृ. 21.

40. वीर भारत तलवार (सम्पादक): नक्सलबाड़ी के दौर में पृ. 33.

41. वही. पृ, 25.

42. वही. पृ, 27.

43. प्रधान हरिशंकर प्रसाद: ग्रामीण भारत में सूदखोर पूँजी की प्रतिक्रियावादी भूमिका, (लेख). फिलहाल. जुलाई-अगस्त, 2000. पृ. 53.

44. धर्मवीर: हरियाणा में हरितक्रांति, (लेख). फिलहाल. नवम्बर, 2004. पृ. 13

45. ब्रह्मदेव शर्मा: साम्रज्यवादी हमले और ग्रामीण भारत का गहराता संकट ,(लेख). फिलहाल. फरवरी, 2005. पृ. 17.

46. पी. साइनाथ (अनुवाद मनीष शांडिल्य): किसानों की आत्महत्या क्यों?, (लेख). फिलहाल. अगस्त-सितंबर, 2008. पृ. 27.

47. वही. पृ. 27

48. कर्ज माफ़ी का अर्थशास्त्र:(संपादकीय) . फिलहाल. मार्च-अप्रैल, 2008. पृ. 02

49. वही. पृ. 01.

50. प्रीती सिन्हा: जमीन का अनसुलझा सवाल, (लेख). फिलहाल. मार्च, 2010. पृ. 27.

51. मदन केशरी: जंगल की टूटती चुप्पी, (लेख). फिलहाल. सितम्बर, 2009. पृ.06

52. ज्योति घोष: बजट की राजनीति का अर्थशास्त्र, (लेख). फिलहाल. मार्च-अप्रैल ,2001. पृ. 10

53. 'रजनीश: संकट में खेती किसानी, (लेख). फिलहाल. जनवरी-फरवरी, 2010. पृ. 19.

54. वही. पृ. 20

55. वही. पृ. 20

3. अध्याय तीन: समकालीन पत्रिकाओं में किसान प्रतिरोध का सवाल

- किसान आंदोलन: ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- किसान आंदोलन का संरचनात्मक ढांचा
- किसान का प्रतिरोधात्मक स्वर

किसान आन्दोलन: ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

किसान प्रतिरोध भारत के इतिहास में बहुत पुरानी संस्कृति है. मध्यकालीन शासन काल में भी सामंती ढांचे में किसान पिस रहा था उस समय के किसान विद्रोह की झलक उस समय के तत्कालीन साहित्य और इतिहास में मिलती है. मध्यकालीन समय में विद्रोही किसानों के गाँव 'मवास' के रूप में पहचाने जाते थे. औपनिवेशकालीन सत्ता काबिज होने के पश्चात् भारत में शोषण-उत्पीड़न और दमन में वृद्धि हो गयी थी. जब किसान इस दमन कोई समाधान नहीं निकाल पा रहे थे, तब किसान औपनिवेशक और सामंती नीतियों के खिलाफ प्रतिरोध शुरू कर दिए और इन प्रतिरोधों का दमन भी शुरू हो गया था और आगे किसानों ने सामूहिक विद्रोह की राह चुनी . इन विद्रोहों ने सशस्त्र रूप भी धारण कर लिया था. शुरुआत 1767-68 ई. में त्रिपुरा के शमशेर गाजी विद्रोह से हो गई.''जब सभी मान्य विकल्प समाधान के संदर्भ में अपने हथियार डाल देते हैं. तब उत्पीड़ित वास्तविक हथियार हाथ में उठाता है. इसके प्रयोग के जरिए वह सत्ता से टकराता है और सामाजिक-आर्थिक स्थितियों में गुणात्मक बदलाव आने की कोशिश करता है. उसके संघर्ष कभी सफल होते हैं, कभी नाकाम रहते हैं पर इनकी भी ऊर्जावान निरंतरता बनी रहती है. इससे खेतिहर समाज की जीवंतता सिद्ध होती है. उदाहरण के लिए 1778 से लेकर आज तक सैकड़ों छोटे-बड़े विद्रोह हो चुके हैं.''[1] आइये, हम इन किसान बगावतों पर एक नजर डालें.

पचास हजार संथाल किसान लड़ाकू वीरों के संग्राम को लीजिए. इन संथाल किसानों पर भयंकर अत्याचार ढाने वाले सूदखोर, महाजनों, जमींदारों और विदेशी सरकार के नापाक त्रिस्तरीय गुट के अत्याचार शोषण के खिलाफ किसानों ने बड़ी वीरता और उत्साह से लड़ाई चलाई. उनमें से आधे से ज्यादा किसानों ने लड़ते-लड़ते अपनी जान की आहुति दे दी. संथालों और त्रिगुट में संघर्ष क्यों छिड़ा? संथाल किसानों ने जमीन को साफ करके खेती योग्य बनाया था. ''सर जार्ज कैंपबेल ने उनकी प्रशंसा में कहा है कि 'जंगलों को साफ करने और जमीन को खेती के योग्य बनाने में वे परिश्रमी ही नहीं, बल्कि निपुण भी थे.''[2]

अंग्रेजों ने नई भूमि व्यवस्था लागू कर दी जिस वजह से उनकी साफ की गई खेती योग्य जमीन जमींदारों के पास आ गई. अंग्रेज और जमीदारों ने कृषि पर मालगुजारी भी बढ़ा दी . शुरुआत में संथाल लोग

पुरानी जगह छोड़कर नई जगह जमीन साफ करके खेती करने लगे. अंग्रेजों की नई व्यवस्था ने वहाँ पर भी उनका पीछा नहीं छोड़ा. ''अपनी देवभूमि से भगाए जाने पर उन्होंने राजमहल की पहाड़ियों के चारों ओर फैले हुए मैदानों के झाड़-झंखार और जंगलों को बड़ी मेंहनत से साफ किया, जमीन के बड़े-बड़े खित्ते खेती के काबिल बनाये और फिर जिंदगी शुरू की. उन दिनों इस प्रदेश को दमने कोह कहते थे.''[3]

सर जार्ज कैंपबेल ने उनकी परिस्थिति का वर्णन इन शब्दों में किया है – ''उनका यह वाजिब ख्याल है कि जमीन उसकी है जिसने उसे पहले जोता है. अगर वे उससे हटने पर मजबूर किये जाते हैं, तो वे और भीतर जंगलों में चले जाते हैं और ऐसी जगहों में, जहाँ वे सताए नहीं जायेंगे, नये खेत तैयार करते हैं. लेकिन दुर्भाग्यवश अब वे उस हद पर पहुँच चुके हैं. जहाँ से और आगे बढ़ना मुमकिन नहीं है क्योंकि अब वे अपने को गंगा के समतल मैदानों की सरहद पर पाते हैं, यानी ठीक उस जगह पर जहाँ जमीन के लिए सबसे ज्यादा होड़ है और जहाँ लगान की दरें बहुत चढ़ गई हैं.''[4]

ये नई आर्थिक व्यवस्था संथाल किसानों के लिए बहुत ही पीड़ादायक 'साबित हुई. अंग्रेजी व्यवस्था के संरक्षण में जमींदारों की जमीन को हड़पने की नीति खूब सफल हो रही थी. जब तक संथाल जमीन को साफ करते, खेती के काबिल बनाते, तब क जमींदार चुप रहते. जमीन खेती के काबिल बनते ही जमीदार जमीन पर अपनी मिल्कियत और अत्यधिक मालगुजारी वसूलने में तनिक भी देरी नहीं दिखाते. 1856 ई. के 'कलकत्ता रिब्यू' ने इस संदर्भ में लिखा. ''दमन की सरहद पर रहने वाले लोभी जमींदार कुछ दिनों से उनकी जमीनों पर अपनी लालच भरी निगाह डालने लगा है.''[5] संथाल किसान किस-किस तरह से किन-किन लोगों का जुल्म सह रहे थे . इसको उनके समकालीन लेखक ने 'कलकत्ता रिब्यू' में लिखा था. ''जमीदार, पुलिस, तहसील और कचहरी के अमलों ने एक ऐसी व्यवस्था कायम कर रखी है, जिसके अन्दर दब्बू और डरपोक संथालियों से रूपये ऐंठे जाते हैं, जोर-जुल्म से वसूलिया की जाती हैं, उन्हें जमीन से जबरन बेदखल किया जाता है, मारा-पीटा जाता है और गालियाँ दी जाती हैं और अनेक किस्म के छोटे-छोटे जुल्म किये जाते हैं. 50 से 500 रुपये सैकड़े कमरतोड़ सूद, हाट और बाजार में झूठे बटखरे, अमीरों का जान-बूझकर और ओछेपन की भावना से इस गरीब फसल पर अपने मवेशियों टहओं, खच्चरों और हथियों तक

को छोड़ देता. और इस प्रकार उनकी भूमि में उत्तराधिकार प्रवेश करना-इस किस्म की गैरकानूनी कार्रवाइयाँ अक्सर होती रही हैं. यह भी देखा गया है कि कुछ लोगों ने संथालों से मुचलके की माँग की है. कर्ज के बंधक के रूप में शर्मनाक मांगे की गयी हैं और यह उत्पीड़न का एक और तरीका रहा है.''[6]

इस प्रकार जमींदारों के साथ महाजनों का भी उत्पीड़न था. 'कलकत्ता रिब्यू' ने लिखा है कि ''संथालों ने कर्ज के बदले अपनी फसल को, अपने मवेशियों को और खुद अपने को और अपनी बीबी-बच्चों को बिकते देखा, और तारीफ यह है कि कर्ज की दस-गुनी रकम भरने के बाद भी यह कर्ज उनके ऊपर एक भार बना ही रहता था.''[7] संथाल किसान जो उत्पादन करते थे व्यापारी आकर उनकी असली कीमत से बहुत कम दाम पर खरीद लेते थे. संथाल हाट-बाजार में अपना उत्पादन बेचने जाते थे. हाट सप्ताह में दो दिन लगते थे. हाट में "बाहर' के व्यापारी आते थे. ये व्यापारी सस्ता माल खरीदकर मंहगे दामों पर कलकत्ता मुर्शिदाबाद भेज देते थे. बहुत सारी वस्तुए विदेश भी चली जाती थी"[8]. ये संथालों के श्रम का खुलेआम शोषण करते थे.

इन सब के ऊपर रेल के निर्माण में लगे यूरोपीय कर्मचारियों का उत्पीड़न अलग था. 1856 ई. के 'कलकत्ता रिब्यू' ने रेलवे लाइन में नियुक्त यूरोपीय कर्मचारियों द्वारा किए गये इस किस्म के जुल्म की जैसे बिना दाम दिये बकरी के बच्चे, मुर्गियाँ वगैरह ले लेने, दो संथाल स्त्रियों को जबरदस्ती भगा ले जाने और हत्या तक की – घटनाओं के विवरण दिये हैं."[9]

सूदखोरों, जमीदारों, व्यापारियों, यूरोपियनों और सरकारी अफसर एवं मुलाजिमों के जुल्म के कारण संथाल किसान भारी संकट में आ गया था. संथालों की शांतिप्रियता की वजह से उन्हें दब्बू और कायर समझ लिया गया. सहने और समय बीतने के साथ जुल्म बढ़ता गया. बढ़ते जुल्म से संथालों में बेचैनी और असंतोष बढ़ने लगा था. संथालों के गाँवों के गाँवों में विचार-विमर्श होने लगा कि आखिर क्या किया जाए? कौन सा सही रास्ता निकाला जाए. आखिरकार तत्कालीन व्यवस्था ने उन्हें खुली बगावत का रास्ता अख्तियार करने पर मजबूर कर दिया. जहाँ सरकार ने संथालों के पिछले विद्रोह 1811, 1820, 1830 से कोई सबक नहीं सीखा.

संथाल किसान प्रतिरोध के आगे दमनकारी स्थानीय पुलिस, जमीदारों के एजेंट महाजन और व्यापारी सिर पर पैर रख कर भागे. इस पराजयसे अंग्रेज सरकार घबराकर 'मार्शल लॉ' (फौजी कानून) क्षेत्र में लागू कर दिया. फौज को यह छूट दी गई ''बागियों को नेस्तनाबूद करने के लिए जो कार्रवाई जरूरी समझे करें.''[10]

स्थानीय जमींदारों, दूर दराज के रैयत वाले नवाब, राजाओं ने निजी सहायता दी और साधन भी मुहैय्या कराए. और इन विद्रोही किसानों को खत्म कर पाने में भरपूर सहयोग मिला. ''जमींदारों और नीलहे साहबों ने भी सरकार की सहायता के लिए अपने साधनों का उपयोग किया...मुर्शिदाबाद के नवाब नाजिम ने भी ''अपने निजी खर्च पर हाथियों का एक दल भेजा. 27 सितम्बर को बर्दवान के कमिशनर ने लिखा कि विद्रोहियों के खिलाफ जो सेनाएं भेजी गयी थी, उनका पूरा खर्च गोरे नीलहे साहबों ने दिया था.... इस आन्दोलन को खत्म करने के लिए बागियों की हत्या करने के फरमान से लेकर संघर्षशील नेताओं पर इनाम की घोषणा की गई. बगावत के सरगना के लिए 100,00 रूपये, हर दीवान (इनकी संख्या 3 या 4 मानी जाती थी) केलिए 5,000 रूपये, परगना हर छोटे मुखिया के लिए 1,000 रूपये' का ऐलान किया गया. 3050 रूपये मासिक वेतन पर गढ़वालियों का एक रक्षा दल नियुक्त किया गया. रास्तों की निगरानी, तथा सुरक्षा करेगा और गोपनीय सूचनाएं फौज को मुहैया करायेगा ."[11]

यह इतिहास का वर्ग संघर्ष लग रहा था जहाँ सारा दमनकारी शोषक वर्ग एक तरफ हो गया था. दूसरी तरफ शोषित जुल्म सहने वाले संथाल किसान और उत्पीड़ित शोषित किसान का वर्ग था ''हमें जो खबरें मिली हैं, उनसे मालूम होता है कि ग्वाले, तेली और दूसरी जातियाँ संथालों को जालिमाना हरकतों के लिए भड़का रही हैं और उनकी रहनुमाई कर रही है. ये लोग उन्हें खबरें देते हैं उनके लिए नगाड़े और डुगडुगी बजाते हैं, उनकी कार्यवाही का संचालन करते हैं और उनके गुप्तचरों का काम करते हैं. इन लोगों को और लोहारों को, जो उनके तीर और कुल्हाड़े बनाते हैं, माकूल सजा दी जानी चाहिए और सरकार विद्रोहियों के खिलाफ जो ऐलान करना मुनासिब समझती है, उसमें फौरन इन्हें भी शामिल कर लेना चाहिए.''[12]

शोषित वर्ग अलग-अलग जाति और अन्य आदिवासी अस्मिताओं में बंटें थे पर शोषण, औरजुल्म से सभी मुक्ति चाहते थे . इनके संगठन का संरनात्मक ढांचा अपने स्वभाव और जरूरत अनुसार सुदृढ़ और अनुशासित था. जुलाई को भागलपुर के कमिश्नर के नाम उसने जो पत्र लिखा, उससे साफ मालूम होता है कि संथाल किन तरीकों से अपनी लड़ाई चला रहे थे. उसने लिखा "हमने सुना है कि विद्रोही छोटे-छोटे जत्थे बनाकर चलते हैं लेकिन नगाड़ों की आवाज पर वे दस-दस हजार की तादाद में जमा हो जाते हैं. उन बगावतों की तरह, जिनमें जनता उठ खड़ी होती है . विद्रोहियों ने भी छापामार लड़ाई और उसके एक स्थान पर अपने दोस्तों को इकट्ठा करने की सैनिक प्रणाली अपनाई. भारतीय रंगमंच पर संथाल विद्रोहियों के दलों का आना एक नया ही अनुभव था. यह पहली जन-सेनाएं थीं और उनमें भाड़े के टट्टू नहीं, बागी किसान थे, जिन्होंने अत्याचारियों के खिलाफ हथियार उठाया था. यह उनके संगठन और उनके स्वैच्छिक अनुशासन की बहुत बड़ी कामयाबी थी, कि बिना किसी फौजी-ट्रेनिंग के 10,000 से भी अधिक आदमियों को थोड़े समय की ही सूचना पर जमा कर लिया जाता था या अपनी-अपनी जगहों पर भेज दिया जाता था."[13]

ताकतवर वर्ग अपनी एकता, कार्यनीति, रणनीति से विद्रोहियों के आक्रोश को दबाने में भूमिका प्रमुख थी . इन विद्रोहों को बिना रक्तपात के दबाना संभव नहीं था .यह केवल निर्दयी साम्राज्यवादी के लिए संभव था . इस प्रतिरोध को कुछ इस तरह कुचला गया है- उनमें से आधे लोग मार डाले गये.जैसे "30 से 50 हजार विद्रोहियों में से 15 से लेकर 25 हजार तक को कत्ल कर दिया गया. जुलाई और अगस्त के चिरस्मरणीय दिनों में राजमहल की पहाड़ियाँ खून से नहवाई गई. कान्हू और विद्रोह के दूसरे नेता फरवरी 1856 के तीसरे हफ्ते तक जमात्रा के उत्तर-पूर्व में ऊपरबंदोह नामक स्थान पर पकड़े गये और उन्हें फांसी दे दी गई"[14].

समकालीन आन्दोलन के बारे में अंग्रेजी पत्रिकाओं 'कलकत्ता रिव्यू' 'भारत मित्र' के संपादकीय से मालूम होता है कि "15 से 25 हजार संथालों की हत्या से भी संतुष्ट नहीं हुए और उन्होंने, जो जिंदा बच रहे थे, उनके लिए और भी सख्त सजाओं की मांग की गई... 'भारत मित्र' के संपादक ने लिखा है – खून के प्यासे इन जंगलियों ने न तो उम्र का लिहाज किया है और न औरतों का. उनके दिलों में खौफ और

दहशत पैदा करके ही हम इस बगावत को दबाने की उम्मीद कर सकते हैं. उन्होंने जो शर्मनाक जुर्म किये हैं उनका बदला लेना और किसानों को आगे न हरकतों से बचाना जरूरी है. संथाल यह समझते हैं कि वे बड़े मजे से महीना भर तक कत्ल और लूटमार कर सकते हैं और इसके लिए जरूरी नहीं कि उनसे बदला लिया जाएगा. अगर सरकार संगीनों की नोंक पर बैठी रहना नहीं चाहती, तो यह बिल्कुल जरूरी है कि ख्याल उनके दिलों से हटा या मिटा दिया जाए. इस उद्देश्य की सफलता के लिए उन्हें जो सजा दी जाए, वह मुकम्मल होनी चाहिए, ताकि भविष्य में दंगाइयों को कामयाबी की कोई सूरत नजर न आए, वह इतनी हौलनाक हो कि हर आदमी यह जानऔर समझ जाए कि बगावत का क्या नतीजा होता है, और वह इतनी सख्त और पुर असर हो कि लोग यह जान जायें कि उनकी जिंदगी और खुशहाली सस्ते दामों में नहीं बिक सकती. हम इन संथालों को पेगू रवाना कर देंगे और उनके एक-दो सरदारों को नहीं, बल्कि जिन जिलों में बगावत का असर है, उनकी तमाम आबादी को बिन्दुस्तान अभी उस मंजिल पर नहीं पहुँचा है कि यहाँ पर सशस्त्र विद्रोह को उसी तरह नजरअंदाज कर टाल दिया जाए, जैसा कि अंगरेज मिनिस्ट्री ने चार्टिस्टों20 के एक जत्थे को मांफी देकर या आयरिश दशभक्तों के एक गिरोह को देश निकाला देकर किया. संथालों को सजा देने का काम एक स्पेशल कमीशन सुपुर्द किया जाए, जैसा 1838 में कनाडा में किया गया था. या अगर इस तरीके को अनुचित समझा जाए तो भी उनके गाँवों पर लूटमार की रकम के बराबर जुर्माना लगाया जाए और जर्माने की रकम उनके बीच बांट दी जाए, जो उनके सताए गये हैं. इस कौम को सजा देने के लिए और अंग्रेजी हुकूमत का रोब और दबदबा फिरसे कायम करने के लिए, यह जरूरी है कि आप संथाल जनता बिना सजा पाये न रहने पाये.''[15] इस तरह संथाल किसान के प्रतिरोध को कुचल दिया गया. संथाल किसान और देश के अन्य भाग के किसानों पर जुल्म और अत्याचारों का अंत नहीं हो गया. उल्टे, ये दमन, शोषण हत्याचार और भी बढ़ गया. फिर भी संथाल विद्रोह एक महत्वपूर्ण दिशा में पूर्ण सफल रहा. सरकार को संथाल जाति को संज्ञान में लेना पड़ा. इस क्षेत्र-वर्ग समुदाय से आने वाले लोगों का एक राजनीति इकाई मानना पड़ा. तत्कालीन राज्य सत्ता को संथाल किसानों की विशेष सामाजिक-आर्थिक स्थिति को मान्यता देने के लिए मजबूर होना पड़ा.

संथाल किसान प्रतिरोध की गूँज देश के अन्य भागों में सुनाई पड़ने लगी. देश में छोटे-बड़े आदिवासी किसानों के सैकड़ों विद्रोह हो रहे हैं. औपनिवेश कालीन साम्राज्यवादी और सामंती गठबंधित राज व्यवस्था में सैकड़ों छोटे-बड़े आदिवासी किसान विद्रोह हुए. जिसे राज्य सत्ता ने अपने 'वर्ग शत्रुओं' को 'शत्रुओ' की तरह ही कुचल कर रख दिया. जिनमें ''पहाड़िया सिरदार 1778, कोली (1784-1818), चौरी आन्दोलन (1795-1800), छोटा नागपुर विद्रोह (1807-08), गुजरात का भील विद्रोह (1809-28), असम आदिवासियों का विद्रोह (1828), मुडा विद्रोह (1834), महान कोल विद्रोह (1831-32), संथाल विद्रोह (1855, इसकी विस्तृत चर्चा ऊपर की गई है), उड़ीसा का जुआंग विद्रोह (1861), कोमा आदिवासी विद्रोह (1862, 1879 व 1880), नागा विद्रोह (1879), मणिपुर विद्रोह (1891), बिरसा मुडा (1920-21), भूमकाल (1910-11), वर्ली विद्रोह (1946-48), नागा विद्रोह (1963-71), मिजो विद्रोह (1966-71), बिहार, आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा, झारखंड जैसे राज्यों के आदिवासी अंचलों में मौजूद प्रतिरोध की लहरों को गिना जा सकता है.''[16]

ये प्रतिरोध साम्राज्यवाद और सामंतवाद के विरुद्ध था. आदिवासी किसान संरचनात्मक जुल्म और शोषण के खिलाफ एक नई व्यवस्था को प्रस्तुत भी कर रहे थे. अल्प काल के ही सही उन्हेंने अंग्रेजी साम्राज्यवाद और देशी सामंतवाद से आजाद (मुक्त) घोषित कर दिया था. ये आन्दोलन सम्पूर्णता में कई प्रवृत्तियों के विरूद्ध शरू हुए थे. ''इन विद्रोहों की जड़ों में थे सामंती और औपनिवेशिक सत्ताओं द्वारा लादी गई उत्पीड़क भू-व्यवस्था, बाहरी शासन मशीनरी, बढ़ते औद्योगिकीकरण के दबाव, जल-जंगल-जमीन पर वैध-अवैध कब्जा, आदिवासी संस्कृति का विकृतिकारण, अमौद्रिक अर्थव्यवस्था का बाजारीकरण, सरल व एकल आयामी देशज प्रौद्योगिकी का सामंतीकरण और बहुआयामी जटिल प्रौद्योगिकी की प्रतिस्थापना जैसे कारण.''[17] इन आन्दोलनों की प्रतिरोधी संस्कृति से आदिवासी किसान प्रभावित होकर नई ऊर्जा के साथ अपनी मुक्ति की राह और सपना देख रहा है. ये इन प्रतिरोधों की महत्वपूर्ण और सार्थक सफलता है.

गैर आदिवासी समाज जिसे 'मुख्यधारा' का समाज भी कहा जाता है. इस समाज के किसानों को जातिगत सामंती शोषण, उत्पीड़न के साथ औपनिवेशिक दासता को भी झेलना पडा. भूमिहीनता,

पलायन, बंधुआ मजदूरी, बेगार, अकाल जातिगत भेदभाव छुआछूत, औपनिवेशिक मशीनीकरण से लघु एवं कुटीर उद्योग का ह्रास, अंग्रेजों की प्रत्यास गुलामी जैसी भयानक समस्याओं से किसानों को जूझना पड़ रहा था. अत्यधिक मालगुजारी, सूद की ऊँचीदर और जमीन से बेदखली, बार-बार पड़ने वाले अकाल ने देशभर के किसानों को आन्दोलित कर दिया. किसान वर्ग तंगहाली, बदहाली और लाचारी में जीने को मजबूर हो रहा था. देशी-विदेशी शासक शौकत के साथ जिंदगी का आनंद लेकर जी रहे थे. किसानों को इस प्रवृत्ति ने भी आक्रोशित किया था. एक वर्ग की भूख लाचारी से हत्या हो रही थी. जिससे किसान अन्य गरीब सेवारत कर्मचारियों का खून खौलने लगा था. जो दक्षिण से लेकर उत्तर तक किसान व सैनिक विद्रोह की श्रृंखला बन गई.

किसानों के अंदर धधक रही ज्वाला को उन्होनें आंदोलन के रूप में रूपांतरित किया था. इन्हीं आंदोलनों में चंपारण और अवध के किसान आंदोलन है. चंपारण में औपनिवेशिक, अंग्रेजी राज्यसत्ता और उनके दलाल भू-स्वामी जमींदारों ने भांति-भांति से किसानों का शोषण किया तथा उनकी ऊपज और संपत्ति का लूट खसोट करते थे. 23 जुलाई 1917 को प्रताप (औपनिवेशिक कालीन दौर में किसान चेतना एवं उनके सवालों पर लिखने वाला महत्त्वपूर्ण पत्र था जिसे कानपुर से गणेश शंकर विद्यार्थी निकालते थे) ने लिखा की चंपारण के नीलू गया जी के पंडों की भांति मुर्दे की जायदाद से लूट खसोट करते हैं. जब किसी का पिता मर जाता है और उसका पुत्र कोठी में मालगुजारी दाखिल करने के लिए जाता है तब बिना माल ऐठे मृत पिता का आमालनामा उसके पुत्र के नाम से नहीं लिखा जाता."[18] चंपारण के किसान पर अन्य तरह के शोषण के बारे में युवा आलोचक रामाज्ञा शशिधर अपनी पुस्तक 'किसान आंदोलन की साहित्यिक जमीन में लिखते हैं 'चंपारण में गोर बागान मालिकों ने १९ वी सदी में किसानों में एक इकरारनामा लिया जिसके अनुसार किसानों को एक बीघा खेती के लिए तीन कठ्ठे में नील बोना पड़ता था. इसे तिनकठिया पृथा कहते थे. १९०० ई के बाद कृत्रिम रंगों ने नील बाजार में धक्का दिया. पहले विश्वयुद्ध के दौरान नील व्यापर में ज्यादा मंदी आने के कारण गोरे जमींदारों ने चंपारण के किसानों पर सारा आर्थिक बोझ लाद दिया, नील उगाने की बाध्यता से मुक्ति के बदले उन्होनें शरहबेगी (लगान वृद्धि) अथवा (एकमुश्त मुआवजा) की मांग की "चंपारण में जो

अबवाब तीन रूपए बीघा वसूली किया जाता था उसे कहीं सलामी कहीं तिनकठिया और कहीं लगन कहा जाता था. 1917 के आस पास चंपारण में आर्थिक शोषण अपने चरम पर था."[19] इस शोषण और जुल्म के खिलाफ चंपारण के किसान लामबंद हुए थे और उन्होंने मुक्ति के लिए संघर्ष छेड़ दिया था. एक स्तर पर शोषणकारी वर्ग को पीछे हटकर किसानों से बातचीत और समझौते के लिए मजबूर होना पड़ा था.

इसी तरह से अवध किसान आन्दोलन (1920-22) प्रारम्भ हुआ. यहाँ स्थाई बंदोबस्त वाली भूमि व्यवस्था के दलाल भू स्वामी ने जबरिया लगान, नजराने और बेगारी कठोर रूप में लागू कर दी थी. बाबा रामचंद्रदास, सहदेव सिंह और झिंगुरी सिंह के नेतृत्व में रूरे किसान सभा से शुरू हुए इस आन्दोलन ने कुछ ही महीनों में एक और अवध के तल्लुकोदारों और ब्रिटिश सरकार के लिए चुनौती खड़ी कर दी थी. बाबा रामचंद्र गिरमिटिया मजदूर के रूप में कार्य करने फिजी गए थे. वहां से वापिस लौटने के बाद उन्होंने अवध क्षेत्र के जिलों में जाकर किसानों के बीच घूम घूमकर उनकी समस्या जानी, समझी. किसानों के चेतना स्तर पर जाकर बातचीत की, रामायण जनचेतना में कहीं गहरे से जड़ जमाई है. उन्होंने रामायण का पाठ करना शुरू कर दिया. रामायण के माध्यम से बाबा रामचंद्र किसानों को इकठ्ठा करके उनसे रूबरू होते और किसान जीवन की समस्याओं पर चर्चा करते, उन्हें समाधान खोजने को कहते थे. स्वयं को भी किसानों के ऊपर होने वाले जुल्म और शोषण के खिलाफ प्रतिकार के लिए तैयार रखते थे. किसान थोड़े ही दिन में बाबा रामचंद्र को अपना अगुआ घोषित करते हैं. किसान की आपसी एकता और संगठन इतना मजबूत हो गया कि थोड़ा बहुत जुल्म होता और वे उसके खिलाफ उठ खड़े होते और उसके विरुद्ध संघर्ष छेड़ देते. अवध के क्षेत्र में बढ़ते किसान संघर्ष की चेतना से भयभीत होकर तत्कालीन राजसत्ता ने उनके नेताओं को गिरफ्तार कर लिया था, जिस वजह से हजारों की संख्या में किसानों ने जेल को घेर लिया था. मजबूर होकर सरकार ने उनको बिना शर्त रिहा कर दिया था."1920 के अंत में कुछ किसान नेताओं की छोटी अपराधों में गिरफ्तारी नें समस्याओं के अंतर्विरोध को और तीखा कर दिया. उनका मुकदमा प्रतापगढ़ शहर में होने वाला था लेकिन सुनवाई के अवसर पर किसानों की हजारों की संख्या से अदालत का अहाता खचाखच भर गया था. हजारों ग्रामीण किसान उसी जेल रास्ते पर खड़े थे जिसमें किसान नेता रखे गए थे. मजिस्ट्रेट ने पहले तो सुनवाई

स्थगित करने का निश्चय लिया लेकिन जब यह देखा कि भीड़ ने जेल को घेर रखा है तो जेल के अन्दर ही सुनवाई करके नेताओं को छोड़ दिया गया. जवाहरलाल के अनुसार 'यह किसानों की एक बड़ी जीत थी जिसने उनके मन में अपने संख्या बल के बारे में विश्वास पैदा किया."[20]

इस घटना के बाद अवध क्षेत्र के किसानों की एकता बढ़ गयी जिसमें उन्हें अपनी मुक्ति और जरूरत पूरी होने की आशा दिखने लगी. उन्होनें लगान देना बंद कर दिया, जमींदारों की फसल और पूँजी और बाजार से जरूरी चीजें छीनकर अपनी जरूरी जरूरत पूरी करने लगे. किसान अपने आन्दोलन को व्यापक बनाने के लिए जगह-जगह सभाओं का आयोजन करने लगे. इन किसानों के वर्ग संघर्ष को शुरूआती स्तर पर थोड़ी सफलता मिली. उन्होनें जमींदार और राजाओं को भगाकर उनके मजबूत इलाके में भेज दिया, जहाँ उनके मालिक अंग्रेज लाखों की सेना के साथ ऐश कर रहे थे. अंग्रेजों ने अवध प्रांत सेना भेज दी. वहीँ किसान नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया. किसानों पर राजकीय आतंक के साथ भयानक दमन हुआ. साम्राज्य विरोधी ताकतें भी इसका मौन समर्थन करती रही. "वहीँ युक्त प्रान्त के वकीलों की शहरी किसान सभा और कंग्रेस के जमींदार समर्थक चरित्र का पोल खोल दिया. अवध में असुरक्षित काश्तकारों ने लड़ाइयां लड़ी जो बेदखली के कारण सर्वहारा ही थे. 1921 में बाबा रामचंद्र की गिरफ्तारी के कागजात आज भी प्रतिबंधित हैं. इससे पता चलता है कि यह आन्दोलन क्यों विफल किया गया."[21]

अवध किसान आन्दोलन में सामंती तत्वों और उनके गुंडों को किसानों ने पराजित करके खदेड़ दिय . साम्राज्यवादी अंग्रेजी सेना अपने पालतू वफादार जमींदारों की सहायता में आ जाती है. ये अंग्रेजी राजसत्ता का जमींदारों को संरक्षण था. कांग्रेस और गाँधी किस तरह इन सामंती तत्वों में राजभक्ति की जगह देशभक्ति की भावना पहचान लेते हैं.'किसानों को अभी चुप रहना चाहिए, ये स्वाधीन होने का समय है जमींदारों का जुल्म शोषण सह लेना चाहिए, जबकि सामंती व्यवस्था अंग्रेजी साम्राज्यवादी संरचना के आधार के अनुरूप ही थी. सामंतों, जमीदारों को बचाना उनके जुल्म को टालना और छुपाना अंग्रेजी साम्राज्यवाद को ही मजबूत करना था. स्वाधीनता आन्दोलन के समय कांग्रेस के अंग्रेजी साम्राज्यवाद विरोध और सामंती प्रेम के संबंधों का सूक्ष्मता से अध्ययन से ही वास्तविक वर्ग पक्षधरता समझ में आ सकती

है."तेभागा और तेलंगाना गरीब किसानों द्वारा चलाए गए महत्वपूर्ण आन्दोलन थे. दोनों औपनिवेशिक दौर में शुरू हुए थे. भूमिहीन किसानों को भूमि पर उनका वास्तविक हक़ दिलाने की कोशिश करते थे. तेलंगाना किसान आन्दोलन स्वतंत्रता के बाद भी जारी रहा, जिसका तात्कालिक अंत प्रगतिशील, जनपक्षधर, समाजवादी हृदयवाले स्वतंत्र भारत के पहले मुखिया प जवाहरलाल नेहरु की सेना ने बड़े देशी अन्दाज में किया था. तेलंगाना के किसान अमानुषिक शोषण और उत्पीड़न से जर्जरित थे.उनके सर पर कितने ही तरह के कानूनी और गैर कानूनी टैक्स थे, उसका हिसाब करना कठिन है. इन शोषकों में प्रधान व्यक्ति थे निजाम, उसके बाद थे जमींदार, जमींदार और देशमुखों का दल. जागीरदार थे बड़े जमींदार. करीब आधा तेलंगाना उनके अधिकार में था. बाकी आधा देशमुखों के हाथ में था. ये देशमुख एक ज़माने में निजाम के लिए लगान वसूल करने वाले अधिकारी थे...निजाम के पास कुल जमीन थी. एक करोड़ पचास लाख बीघा. 15 लाख भू दास इस जमीन पर खेती का काम करते थे. उससे निजाम की आय होती थी पांच करोड़ रूपए प्रतिवर्ष. उसके आलावा राज्य बजट निजाम 10 लाख रूपए प्रतिवर्ष पाते थे. इसके सिवाय हैदराबाद के अधिकांश कल कारखानें के बड़े बहादुर थे. निजाम के हीरा-मोती और सोने के आभूषणों का दाम कम से कम 600 करोड़ रूपए था."[22]

निजाम के इस अमानुषिक शोषण शासन के हिस्सेदारों की कुल संख्या थी ग्यारह सौ थी. "निजाम अपने इन 1100 लोगों से मिलकर हैदराबाद की एक करोड़ दस लाख जनता का शोषण करता था. इन 1100 जमींदारों और देशमुखं के पास कुल 1 करोड़ बीघा जमीन थी. पूरे राज्य के कुल जमीन के 5 भाग में 3 भाग. इन 1100 परिवारों में से सिर्फ 10 परिवारों की वार्षिक आय थी 10 करोड़ रूपए. हैदराबाद के किसानों पर कुल 80 करोड़ रूपए का कर्ज था. और इस कर्ज के अदाई किए हुए सूद का सब पैसा इन्हीं दस परिवारों के हाथ में आता था. यह है भारत के सामंतवादी समाज के बड़े स्तम्भ हैदराबाद के सामंतवर्ग के शोषण का एक संक्षिप्त हिसाब. इसी शोषक वर्ग के कल्पनातीत शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध तेलंगाना के किसानों ने क्रांति की लाल पताका ऊड़ाई थी और इन्हें भगाकर ही तेलंगाना के किसानों ने एक करोड़ आठ

लाख बीघा जमीन को शोषण मुक्ति किया था और इस शोषण मुक्त इलाके में प्रतिष्ठित की थी. भारत की प्रथम जनतांत्रिक शासन व्यवस्था."[23]

तेलंगाना में जनसंघर्ष से वहां किसानों का शासन स्थापित होने लगा. "1948 के पहले 6 महीने के अन्दर ही अत्याचारी जमींदार, देशमुख, जोतदार आदि के हाथ से 30 लाख बीघा जमीन छीन ली गयी. छीन लेने के साथ साथ ही वह जमीन गरीब किसानों, खेत मजदूरों आदि के बीच बाँट देने के बाद जमीन का मालिकाना हक़ उन किसानों का दे दिया. कुल तीन तरह की जमीन जब्त की गयी थी. पहली तो वह सब जमीन जो देशमुख, जमींदार ,जोतदार, आदि से छीन ली गयी थी, वह सभी जब्त कर ली गयी. दुसरे वह सब जमीन जो किसानों से देशमुख जमींदार, महाजन आदि ने छीनी थी, उसे जब्त कर जिनकी जमीनें थी, उन्हें लौटा दी गयी. तीसरे प्रोम्बाक या परती जमीन जब्त कर उसे किसानों में बाँट दिया गया...इस संघर्ष से किसानों पर जुल्म उत्पीड़न कम हुआ. उन्हें कई पुरानी परम्परागत प्रवृत्तियों से छूट मिली. "यह सामंतवादी शासन को ख़त्म करने के लिए किसानों का एक क्रन्तिकारी सशत्र संग्राम था. मुक्ति क्षेत्रों में किसान समितियों ने कृषि कार्यक्रमों को लागू किया. यद्यपि यह काम पूरा नहीं हो पाया. फिर भी 30 लाख एकड़ जमीन का वितरण किया गया, बेगार बंद कर दी गयी, अवैध शोषण और सामंतवादी दमन ख़त्म कर दिए गये. बेदखली बंद कर दी गयी और न्यूनतम मजदूरी लागू कर दी गयी. इस संघर्ष ने कृषि क्रांति के सवाल को बिल्कुल सामने ला दिया जिसके फलस्वरूप कांग्रेस पार्टी को भूमि सुधार कार्यक्रम लेने के लिए मजबूर होना पड़ा."[24]

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का यह पहला सशस्त्र संघर्ष था. इसमें हज़ारों किसान तथा पार्टी गुरिल्ला मारे गए और बड़ी संख्या में कम्युनिस्ट कार्यकर्ता तीन से चार साल तक जेल में रहे.आजादी के बाद देश में सामाजिक आर्थिक उत्पीड़न (जुल्म)शोषण के खिलाफ कई महत्वपूर्ण किसान आन्दोलन हुए हैं. जिसमें नक्सलबाड़ी आन्दोलन, श्रीकाकुलम(केरल), भोजपुर(बिहार) और अन्य बहुत सारे आन्दोलन हुए. इनकी परंपरा और ऊर्जा के श्रोत औपनिवेशिक दौर में हुए कृषक व अन्य क्रन्तिकारी आन्दोलन ही थे. तेलंगाना से किसान आन्दोलन अपने संरचनात्मक स्वरुप में आने लगे. जो आज भी अपनी निरंतरता बनाए हुए है.

किसान आन्दोलन का संरचनात्मक ढांचा

किसानों के संरचनात्मक संगठन की शुरुआत कम्युनिस्ट राजनीति के साथ शुरू होती है. भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का गठन [1925ई.] में हुआ. इस पार्टी का किसान संगठन 'आल इंडिया किसान सभा' अप्रैल [1936] लखनऊ में 'भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी' की राष्ट्रीय कांग्रेस करके बनाया. इसके पहले निर्वाचित अध्यक्ष स्वामी सहजानंद सरस्वती होते है. हालांकि 'स्वामी सहजानद सरस्वती' इससे पहले 1929 में 'बिहार प्रोविजनल किसान सभा' बनाकर किसानों के विरुद्ध जमींदारों को शोषण, जुल्म के खिलाफ सचेत और संगठित कर रहे थे. 'आल इंडिया किसान सभा' में स्वामी सहजानंद सरस्वती के आलावा अन्य महत्वपूर्ण सदस्यों में एन. जी रंगा, राममनोहर लोहिया, जय प्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्रदेव, बंकिम मुखर्जी आदि सदस्यों के अतिरिक्त कुछ महत्वपूर्ण सक्रिय नेता भी इसमें जुडे. जिन्होंने किसान सभा का संविधान बनाया, इनमें एम् एस नम्बूदरीपाद, पंडित कर्यानंद शर्मा, पंडित यमुना करजी, पंडित यदुत्रनंद शर्मा, राहुल सांकृत्यायन इत्यादि थे. पी सुन्दरयमा, एन.जी. रंगा राम मनोहर लोहिया, बंकिम मुखर्जी ने अगस्त 1936 में 'आल इंडिया किसान' का संविधान प्रकाशित कर दिया. जिसमें जमींदारी व्यवस्था उन्मूलन की बात की गयी. तथा यह बात भी की गई कि किसान सभा का लाल झंडा और बैनर होगा. जिसे अक्टूबर 1936 में स्वीकार कर लिया गया.

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में तेलंगाना क्षेत्र के गरीब किसानों का महत्वपूर्ण आन्दोलन लड़ा गया. पार्टी द्वारा लड़ा गया पहला आन्दोलन था. जिसके पास तात्कालिक समस्याओं के समाधान के साथ-साथ दूरगामी, ऐतिहासिक स्वप्न को कार्यरूप में बदलने की रूपरेखा थी. तेलंगाना से पहले के आन्दोलन शोषण और जोर जुल्म के खिलाफ तात्कालिक आक्रोश के रूप में रूपांतरित होते हैं. आन्दोलन के दौरान जो योजना और सांगठनिक संरचना बनती थी.वह पहले से कार्यक्रम और रणनीति की संरचना कम्युनिस्ट(मार्क्सवादी) राजनीति के किसान सवाल के साथ शुरू होती है. संरचना का परिपक्व रूप नक्सलबाड़ी आन्दोलन से आज तक देखा जा सकता है.

किसान आन्दोलनों का संरचनात्मक दांच मज़बूत होने से सामाजिक, आर्थिक गुलामी, उत्पीड़न झेलने वाले किसान अपनी समस्याएं और दर्द इन संगठनों से साझा कर सकते थे . इन आन्दोलनों की जरूरत और महत्व को समझते हुए भोजपुर क्षेत्र के किसान आन्दोलन के प्रतिभागी बताते है कि "क्या नहीं मिला ! कहते हैं बड़हरा के शीतल चौधरी मजदूरी मिली, जमीन मिली, इज्जत मिली, सबसे बढ़कर तो बोलने की आजादी और आदमी समझे जाने की हैसियत मिली. कल तक जो जमींदार गाली छोड़ और किसी जबान में बात नहीं करता था, उसके दरवाजे पर जाकर अपनी अरज गरज सुनाने पर भी नहीं सुनता था, और नहीं हुआ तो मार बैठता था, गरीब को आदमी नहीं समझता था, जो लोग आज वही अपनी समस्याएं लेकर हमारे दरवाजे पर बात करने आते हैं. ... हमें एक राजनीतिक कार्यकर्ता, नेता मानते हुए पूरी इज्जत के साथ. नहीं तो पहले जब मन करे डॉड़, कमर में डोर बाँध कर घिसरा ले जाता था लोग. गरीब की औरतें, लड़कियों की तो कोई इज्जत थी ही नहीं. वे आँख ही नहीं देह बचाए फिरती थीं जमींदारों से. इससे बड़ा जुलुम क्या कहिएगा की गाँव की लड़की को गाँव में ही रख लेता था सब. (यह कहते हुए उनकी आँखें उसी क्षोभ और क्रोध से भर पल भर को झुक गई, जिस तरह उस समय ऐसी घटनाओं पर बेबसी से पैदा क्षोभ और क्रोध से झुलसी आँखें झुक जाती रहीं होंगी), लेकिन अब तो औरत लोग सामने परगट बहस कर लेती हैं, जमींदारों से. किसी की हिम्मत है की उलटी सीधी जबान बोल दे. ...आज हम स्वतंत्र बोल सकते हैं साफ़ पहन सकते हैं. अपने दरवाजे पर खाट पर बैठ सकते हैं. पहले तो नातेदारों रिश्तेदारों तक को नहीं बैठने देता था सब खाट पर अपने सामने. मजदूरी उतना कहाँ थी पहले. बेगारी थी. कलेवा खाना पानी तक बर्तन में नहीं दिया जाता था. अब तो बर्तन में नाश्ता खाना पानी मिलता है. अब बेगारी नहीं है. हम लड़कर मजदूरी भी बढ़वा लेते हैं और उन्हें बढ़ाना पड़ता है. हमारे लड़के स्कूल में पढ़ने जाने लगे. सन बयालीस के अन्दोलन के समय मेंरी उम्र रही होगी 19 वर्ष के करीब. आज 80 के पार हूँ. तब से लेकर आज तक की हालत देख रहा हूँ. बहुत कुछ बदल गया है तब से आज तक. आज पहले की बात नहीं रही. सैकड़ों दलित पिछडे गरीब लोग आज मनी-बटाई नगदी खेती करने लगे हैं. लड़ते-लड़ते करेजा तोड़ दिए जमींदारों का जिसे कहते हैं उलट पुलट हो जाना वही उलट पुलट हो गया है."[25]

भोजपुर क्षेत्र के गरीब किसानों को अपना जीवन क्यों बदला हुआ लगता था? जमींदार और गरीब भूमिहीन किसान में कोई समझौता नहीं था कि तुम हमको इतनी छूट दे दो बल्कि ये वर्ग संघर्ष था. उत्पीड़ित वर्ग (जिसने किसान के रूप में संगठित होकर संघर्ष चलाया था). शोषक वर्ग जिसमें जमींदार और उनकी सरकारी गैर सरकारी सेना में संघर्ष हुआ था. इस संघर्ष में उत्पीड़ित वर्ग भारी पड़ रहा था.

शोषण, जुल्म दमन को सहने के लिए हरगिज़ तैयार नहीं था.हर तरह की पीड़ा के खिलाफ शोषित वर्ग एकजुट होकर मुक्ति का आव्हान करने लगा. इस तरह के संघर्ष देश में तेलंगाना से शुरू होकर नक्सलबाड़ी होते हुए आज भी देश में जारी है. गरीब जनता(जो सामान्य जनतांत्रिक अधिकार से महरूम है), को जनवादी अधिकारों के साथ देश के कुछ हिस्सों में जमीन पर कब्ज़ा करके विभाजन कर रही है. जल, जंगल, जमीन और सामुदायिक संपत्ति संसाधन पर निजी घरानों के नियंत्रण और अधिकार के खिलाफ भी जनता संघर्ष चला रही है. इस सामाजिक संसाधन पर पूंजीपति का नियंत्रण दिलाने के लिए उनके वर्गहित का प्रतिनिधि निकाय के रूप में विख्यात राजसत्ता आगे आती है.

किसान आन्दोलन के लिए संगठन की क्या जरूरत थी इसको लेकर किसान नेता के रूप में विख्यात सहजानंद सरस्वती बताते हैं:- "किसान सभा बनाने के पीछे मेंरा उद्देश्य केवल प्रचार और आन्दोलन के जरिये किसानों के दुःख दूर करना था और इसके जरिये किसानों और जमींदारों के बीच झगड़े ख़त्म कर देना था क्योंकि ये झगड़े भड़क सकते थे और इनसे आजादी की लड़ाई मेंसभी लोगों की एकता टूटेगी. इसलिए किसान सभा का संगठन बनते समय में पूरा समझौतावादी था."[26] देश की जनता और औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के बीच का अंतर्विरोध को स्वामी सहजानन्द समझ रहे थे. परन्तु उन्होंने किसानों और जमींदारों के बीच की ठोस परिस्थतियों का विश्लेषण करके उनके अंतर्विरोधों को नहीं पहचाना. इसलिए वे किसानों और जमींदारों में शान्ति के पक्षधर थे.

आगे चलकर 1941 में किसान संगठन के बारे में इन नेताओं की सहमति इस प्रकार बनी. "किसान सभा उन शोषित और सताए हुए लोगों की है जिनका भाग्य खेती पर निर्भर करता है, यानि जो खेती पर ही जिन्दा रहते हैं, जो लोग जितने ज्यादा सताए हुए हैं, वे किसान सभा से उतने ज्यादा नजदीक हैं और

किसान सभा भी उतना ही उनके करीब है, और 1944 में वे लोग (मंझोले और बड़े काश्तकार) अपने फायदे में कुछ हासिल कर लेने के लिए किसान सभा का इस्तेमाल कर रहे हैं और हम लोग भी सभा को मजबूत करने के लिए उनका इस्तेमाल कर रहे हैं या फिर करने की कोशिश कर रहे हैं. ऐसा तब तक चलेगा जब तक निचले तबके के किसान अपने सही आर्थिक और राजनैतिक हितों को नहीं समझ जाते और अपनी जरूरतों को समझकर अपनी वर्ग चेतना नहीं हासिल कर लेते. ऐसे अर्धसर्वहारा या खेत मजदूर जिनके पास कोई जमीन नहीं है या नाम मात्र की जमीन है,ऐसे छोटे कास्तकार जो खेती करके किसी तरह जिन्दा रह पाते हैं और कुछ भी नहीं बचा पाते, वे ही हमारे ख्याल में किसान हैं और आख़िरकार उन्हीं को किसान सभा बनानी है और वे जरूर किसान सभा में आयेंगें."[27]

किसान को उत्पीड़ित वर्ग के रूप में विश्लेषित किया था. इनके लिए शुरुआत में'आल इंडिया किसान सभा' गठित हुई थी. यह संरचनात्मक आन्दोलन चलाने में सक्षम थी. किसान को वर्ग दृष्टिकोण से संगठित करते हुए दो महत्त्वपूर्ण आन्दोलन हुए थे. एक तेलंगाना और दूसरा नक्सलबाड़ी. इन दोनों आंदोलनों को वर्ग दृष्टिकोण से शुरू किया गया था. इन आन्दोलन में किसान का वर्ग हित हुआ था. भूमिहीन किसान को भूमि मिली. सामाजिक राजनैतिक-आर्थिक के रूप में उत्पीड़ित वर्ग को अभिव्यक्ति और आजादी मिली थी, जैसे इन आन्दोलन कर्ताओं के 'संरचनात्मक संगठनों' ने वर्ग दृष्टि से "भारतीय राज सत्ता" का वर्ग दृष्टिकोण से विश्लेषण करने की जगह "मनोगतवाद, एकांगीपन, उथलेपन"[28] के साथ *सत्ता में भागीदारी कर ली. जिसका परिणाम शुरुआत में दोनों आन्दोलनकारियों के नेतृत्व को फायदा जान पड़ता दिखाई दिया.* तेलंगाना आन्दोलनकारी 'भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी' ने भारतीय राजसत्ता के लिए चुनाव लड़ा था. जिसमें आन्दोलन वाले क्षेत्र में चुनाव का परिणाम कुछ इस तरह आया था. जबकि इस पार्टी के 3000 कार्यकर्ता चुनाव से अलग थे, "चुनाव के समय 2000 से ज्यादा कार्यकर्ता जेल में थे 1000 से ज्यादा भूमिगत थे. तेलंगाना के 98 चुनाव क्षेत्रों में से सिर्फ 42 क्षेत्रों में जनता का लोकतान्त्रिक मोर्चा चुनाव लड़ सका. (भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी उस समय तेलंगाना में प्रतिबंधित थी और इसी नाम से चुनाव लड़ी थी.) मोर्चे के और उसके सहयोग से लड़ने वाले 45 उम्मीदवारों में से 36 को विजय प्राप्त हुई. इससे सी. पी. आई. की लोकप्रियता का अंदाजा

लगाया जा सकता है. 'लाल' जिला नालगोंडा में चौदह के चौदह स्थान मोर्चे ने जीत लिया. दूसरे लाल जिला वारंगल में मोर्चे को चौदह में से ग्यारह स्थान मिले. करीम नगर में पंद्रह में से 10 स्थान मिले. इस प्रकार पैंतालिस स्थानों में से पैंतीस स्थान उन तीन जिलों में थे जहाँ कम्युनिस्ट पार्टी ने सशस्त्र संग्राम चलाया था. कुल २५ लाख वोटों का एक तिहाई भाग लोकतान्त्रिक मोर्चे को मिला."[29]

इसी प्रकार नक्सलबाड़ी आन्दोलन में अगली कड़ी भोजपुर में जुडी थी. भोजपुर के आन्दोलन कारी पार्टी ने भी भारतीय राजसत्ता में भागीदारी सुनिश्चित की है. "1981-82 में किसन आन्दोलन का जो तूफ़ान आया उसने इस बीच ही आन्दोलन में चुनाव में हिस्सा लेने के लिए आए कार्यनीतिक बदलाव के तहत 1989 के लोकसभा चुनाव में गरीबों की ताकत के बल पर आरा भोजपुर से एक सांसद और 1990 के बिहार विधान सभा चुनाव में बिहार से 7 विधायक भेजकर गरीबो की बढ़ती राजनैतिक दावेदारी का इजहार किया"[30]

क्या इन आन्दोलनों के संगठन को वर्गीय जनता ने साथ नहीं दिया था? जब साथ दिया था तो इनकी समस्याओं का समाधान करना चाहिए था.राज्यसत्ता के वर्गीय चरित्र को लेकर कोई भ्रम था क्या? भारतीय राष्ट्र के चरित्र को लेकर बहस हो सकती है, पर वह सर्वहारा उत्पीड़ित वर्ग का राज्य तो नहीं है, ये दृष्टि तो स्पष्ट है. फिर वर्ग संघर्ष से धोखा क्यों? "वर्ग संघर्ष क्या है? यह जनता के एक भाग का दूसरे भाग के खिलाफ संघर्ष है. विशेष अधिकार वालों,उत्पीड़कों, परजीवियों के खिलाफ सारे अधिकारवंचितों, उत्पीड़ितों, श्रमिकों का संघर्ष है. संपत्ति के स्वामियों या बुर्जुआ वर्ग के खिलाफ उजरती मजदूरों या सर्वहाराओं का संघर्ष है."[31]

इन आंदोलन क्षेत्रों में प्रत्यक्ष क्रन्तिकारी परिस्तिथियाँ भी बन रही थीं. क्रन्तिकारी बदलाव की आस में चेतनाशील वर्ग ने व्यापक समर्थन दिया था. जनता ने आन्दोलनकारी सांगठनिक क्षमता पर भरोसा किया था. इसी वजह से उन्होंने चुनाव में भी समर्थन किया था. जनता से 'अपने' लोगों ने जो कहा वो कर दिया. आन्दोलनकारी ताकतों ने नहीं बताया था कि राजसत्ता की संरचना एक वर्ग विशेष के हित में उत्पादन और पुन: उत्पादन करता है और राज्य संरचना संस्थान को चलाने वाले को उत्पादन का एक हिस्सा मिलता

है. ये चुनाव संस्था भी राज्य की संरचना में आती है. राज्य का कोई भी कैसा भी प्रतिनिधि होगा वह राज्य जिस वर्ग विशेष का होगा उसी के हित में काम करेगा. कोई व्यक्ति या पार्टी निजी इच्छा के बावजूद राज्य सत्ता में भागीदारी करने पर राजसत्ता वर्ग के आलावा किसी अन्य वर्ग का हित नहीं कर सकती है. मार्क्स ने राज्य सत्ता के बारे में कहा है :- "राज्य वर्ग प्रभुत्व का अस्त्र है, ऐसी "व्यवस्था" की सर्जना है, जो वर्गीय टकराहटों को मद्धिम करके इस उत्पीड़न को कानूनी और मजबूती बनाती है."[32]

किसान उत्पीड़ित वर्ग में आते हैं और ये राज्य उत्पीड़ित वर्ग का नहीं है ये राज्य (भारतीय राज्य)उत्पीड़ित सर्वहारा वर्ग का शोषण, जुल्म दमन, ही करता है. ये अपने वर्ग हित में काम करता है. इस राज्य में भागीदारी करने के बारे में क्रन्तिकारी नेता चारू मजुमदार अपने दस्तावेज 8 में अपने समकालीन आन्दोलन के माध्यम से ज्ञान प्रक्रिया को दलाली कहते थे. " बंगाल राज्य किसान सभा के आह्वान (जिसका नेतृत्व हरिकृष्ण बाबु ने किया था) पर 1959 में किसानों ने भेस्ट जमीन तथा बेनामी (गैर मजरूआ आम) जमीन पर कब्ज़ा करने का अन्दोलन चलाया था. सरकार ने जमीन मालिकों के स्वार्थ में दमन चलाया और जमीन पर से हट जाने की राय दी. फिर भी, किसानों ने अनेक इलाकों में जमीन नहीं छोड़ी- गाँव की एकता के बल पर जमीन पर जबरदस्ती कब्ज़ा बनाए रखा. क्या किसान सभा के नेता ने मंत्री होने के बाद, उनके आन्दोलन का समर्थन किया? नहीं, उसने जो कहा है उसका मतलब है, भेस्ट जमीन फिर से बांटी जाएगी. कौन पाएगा? जेएलआरओ इस मामले में किसान सभा की सलाह लेंगें. लेकिन क्या यह सलाह मान ली जाएगी? हरिकृष्ण बाबु ने ऐसा भी वक्तव्य नहीं दिया है. अगर जेएलआरओ इस मामले में किसान सभा की सलाह लेंगे. अगर जेएलआरओ किसान सभा की सलाह नहीं मानते हैं, तब भी किसानों को जमीन पर किसी भी हालत में जबरदस्ती कब्ज़ा नहीं करना होगा. इस मामले में स्पष्ट बताने में देर नहीं की. इसे क्या कहा जाए? क्या यह सरकार तथा जमींदार की दलाली नहीं है?"[33]

इसी तरह तेलंगाना और भोजपुर के सांगठनिक आन्दोलनकारी, उत्पीड़ित किसान का आन्दोलन बीच में छोड़कर चले गए. इन्होंने शोषक राज्य से समन्वय करके शोषित वर्ग को कुछ राहत दिलाने की घोषणा की होगी. इसे तात्कालिक 'कार्यनीति' का हिस्सा बताया. जबकि राजनैतिक परिभाषा में इसे

"संसोधनवाद और अवसरवाद" कहा जाता है. उत्पीड़ित वर्ग की मुक्ति के बारे में रूसी क्रन्तिकारी नेता लेनिन ने कहा था: "उत्पीड़ित वर्ग की आजादी न केवल बलात क्रांति के बिना, बल्कि राज्य की इस मशीनरी के उन्मूलन के बिना भी असंभव है, जो शासक वर्ग द्वारा सृजित हुई है और जिसमें यह "बेगानापन" मूर्तिमान है."[34]

राज्यसत्ता और उसके शासक वर्ग से समझौता करने से संघर्षशील जनता का संघर्ष वापस ले लिया जाता है. शोषित जनता भ्रम में पड़ जाती है. कई-कई पार्टियों में बंट जाती है.शोषक वर्ग भी सर्वहारा और उत्पीड़ित जनता को बांटना ही चाहता है. यह कार्य इन संघर्षशील आन्दोलनों के संगठनकर्ता ने किया. इससे शोषक वर्ग का ही हित हुआ. पूंजीपति शोषक वर्ग के बारे में लेलिन ने कहा है "पूंजीपति वर्ग जहाँ किसानों और सभी निम्न पूंजीवादी तबकों को खंडित और विभाजित करता है, वहीं वह सर्वहारा वर्ग को जमा करता है. एकताबद्ध और संगठित करता है. केवल सर्वहारा वर्ग ही बड़े पैमाने के उत्पादन में अपनी आर्थिक भूमिका के कारण उस तमाम श्रम जीवी और शोषित जनता का नेतृत्व कर सकता है, जिसका पूंजीपति वर्ग सर्वहारा से कम नहीं बल्कि अक्सर ज्यादा शोषण, दमन और उत्पीड़न करता है, लेकिन जो अपनी स्वाधीनता के लिए स्वतंत्र रूप से संघर्ष चलाने में असमर्थ होती है."[35]

पूंजीपति और दलाल शासक वर्ग अपने हित के अनुरूप उत्पीड़ित शोषित वर्ग को संगठित करने की कोशिश करता है. कई सारे किसान आन्दोलन में पूंजीवादी संरचना की 'उत्पाद' "एन जी ओ किसानों का संरचनात्मक संगठन बनाने में लगे हुए हैं. इनका वित्त पोषण उस पूंजीवादी व्यवस्था की सरकारों और पूँजी संस्थाओं द्वारा होना है जिनके खिलाफ उत्पीड़ित वर्ग आंदोलित होता है. यह वित्त पोषण इसलिए किया जा रहा है ताकि किसान व अन्य उत्पीड़ित वर्ग में यह भ्रम बना रहे की यह व्यवस्था किसानों की समस्याओं को सुलझाने में समय ले रही है. *इस व्यवस्था की खूबसूरत, निर्धनता मुक्त, शोषण मुक्त, अन्याय मुक्त तथा शांतिपूर्ण बनाने में लगी हुई है.* बड़े बड़े भूमिपतियों और पूंजीपतियों के पक्ष में काम करने के लिए अधिकतर दलाल शासक वर्ग की राजनैतिक पार्टियाँ तमाम किसान संगठन बनाकर बैठी हैं. किसानों का हित शोषक वर्ग की राजसत्ता में कैसे पूरे होंगे? राजसत्ता की दलाल पार्टियाँ और उनके संगठन किस तरह के

सवाल उठाएंगे? उनका क्या समाधान करेंगे? धोखा लालच और झूठे सपने ही देंगें! बारी- बारी से सरकार बदल जाती है और किसानों, मजदूरों की समस्या जस की तस बनी रह जाती है.

भारतीय किसान संघ, भारतीय किसान यूनियन आदि संगठन क्या किसानों के जीवन की समस्याओं को बदलेंगें? ये घोषित रूप से बड़े किसान और बुर्जुआ पार्टियों से सम्बंधित संगठन हैं. आज भी किसान मजदूर वर्ग का स्वतंत्र वर्ग न चल पाए, इसके लिए समझौतावादी पार्टी भी शोषित वर्ग को बाँटने का कार्य करती हैं. *शोषित वर्ग के खिलाफ वर्ग संघर्ष न छेड जाए इसके लिए पूरी सुरक्षा दे देती* है. चारू मजुमदार एक जगह मजदूरों के हितों से समझौता करने वाले मार्क्सवादियों पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं:- "वर्ग संघर्ष को तेज करना नहीं, मंत्रिमंडल के पक्ष में वकालत करना ही मुख्य काम होगा. इसलिए मजदूर वर्ग के अन्दर अर्थवाद को सुप्रतिष्ठित करने के लिए पार्टी सदस्यों का कन्वेंशन बुलाया गया और इसके बाद ही मंत्रिमंडल के नेतृत्व में उद्योगों में शांति संधि संपन्न हुई. मजदूरों को घिराव करने से मना किया गया, वर्ग समझौता का इससे नंगा चेहरा और क्या हो सकता है? मालिक पक्ष को शोषण करने का पूरा अधिकार देकर मजदूरों को किसी तरह का संघर्ष न करने को कहा जा रहा है."[36]

हमारे समकालीन समय में नक्सलवादियों की समझौताविहीन धारा ही बची है जो उत्पीड़ित वर्ग के लिए वास्तविक संघर्ष जारी रखे हैं. नक्सलवादी आन्दोलन भारतीय राजसत्ता और उसके संरचनाओं को वर्ग दृष्टि से देखता और समझता है. ये आन्दोलन देश के छोटे छोटे जगह पर कई राज्यों में फैला है. ये उत्पीड़ित, गरीब जनता के बुनियादी हक़, अधिकार के साथ जमीन और जीविका का साधन मुहैया करा रहे हैं. इनके विकास पर जनसत्ता में प्रख्यात पत्रकार पुण्य प्रसून वाजपेयी ने एक क्षेत्र की रिपोर्ट प्रस्तुत की थी, जिसका जिक्र यहाँ करना जरूरी लग रहा है:- "गाँव टटरा. ब्लाक कान्हा चट्टी. पंचायत केदि नगर. जिला चतरा राज्य झारखण्ड. देश के सबसे पिछड़े राज्य का सबसे पिछड़ा इलाका, लेकिन सड़क पर आपको कोई गड्ढा नहीं मिलेगा. पीने का पानी मिनरल वाटर से भी साफ. बिजली चौबिस घंटे. हर घर के बच्चे के लिए पढ़ना जरूरी है. आठवीं तक की शिक्षा गाँव में ही मिल जाएगी. इलाज के लिए प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र है और इन सब की एवज में हर बरस दस हजार रूपए सरकार को देने पड़ते हैं.इसके आलावा किसी के घर में

कोई विवाह उत्सव है तो उसके लिए अलग कीमत निर्धारित है. यह रकम १० हजार रूपए से शुरू होकर ५० हजार तक जा सकती है. रुपया न हो तो फसल या सब्जी से काम चल जाता है.

गाँव के किसी घर की कोई बहू-बेटी अगर गर्मियों की छुट्टी में घर लौटती है और वह पढ़ी लिखी है तो वह गाँव के बच्चों को पढ़ाकर कुछ कमा भी सकती है. गाँव के किसी परिवार में किसी को नौकरी नहीं मिली है या कोई महिला अगर पढ़ी लिखी है और उसके लिए गांव से बाहर काम के लिए निकलना मुश्किल है तो वह गाँव के बच्चों को अपना हुनर सिखा सकती हैं. उसकी एवज में सालाना वसूली या तो कुछ कम हो जाती है या फिर अनाज या सब्जी के जरिए उस परिवार को राहत दी जाती है. ये सारी नीतियां कानून की तरह काम करती हैं, और कानून टूटा तो पंचायत में खुले आसमान तले सजा मिल सकती है. सजा कुछ भी हो सकती है. मुफ्त शिक्षा देने से लेकर गाँव के लिए मुफ्त में काम करना या हाथ पैर तोड़ने से लेकर मौत तक, और यह सिर्फ टटरा ही नहीं बाजरा, विदौली, करणी काड सरीखे छात्र जिले में सैकड़ों गाँवों में ये ही हाल है. लेकिन यहाँ सरकार का मतलब न तो झारखण्ड की सोरेन सरकार का है न ही दिल्ली की मोदी सरकार का. यह माओवादियों की समान्तर सरकार है."[37]

इस उत्पीड़ित वर्ग की जनता की सामानांतर जनताना सरकार को उत्पीड़क शोषक राज्य सत्ता उन्हें हर कीमत पर कुचलना चाहती है. सरकार किसी भी पार्टी की हो. इस वर्ग विरोधी कृत्य को ख़त्म करने में मौजूदा एवं पूर्व से लेकर पूर्व के मंत्री और सरकारें इस प्रतिरोध की आवाज को देश की सुरक्षा व्यवस्था के लिए खतरा मानती हैं. खतरा का टालना हर राज्य व्यवस्था का काम है. जबकि ये खतरा वास्तविक रूप में दलाल शासक वर्ग और उनके मालिक देशी विदेशी पूंजीपति, बची-खुची सामंती संरचनाओं के मालिकों पर है. ये उत्पीड़ित सर्वहारा वर्ग ताकतवर होकर संगठित हो जाएगा तो अपने वर्ग शत्रुओं को ख़त्म कर देगा. ये वर्ग शत्रु अभी सत्ता में है इसलिए अपने ऊपर के खतरे को देश के लिए खतरा बता रहे हैं जबकि देश का कुछ भी खतरा नहीं होने वाला है.

किसान का प्रतिरोधात्मक स्वर

समकालीन समय में किसान अनेक स्तर पर संघर्षरत हैं. किसान बुनियादी जरूरत, और राजनीतिक-सामाजिक अधिकार लेने के लए प्रतिरोध कर रहे हैं. किसान अपनी संपत्ति जल, जंगल, जमीन को निजी मुनाफाखोर पूंजीपतियों से बचाने के लिए भी आन्दोलनरत हैं. किसान अपने ऊपर होने वाले दमन और शोषण-जुल्म के विरूद्ध भी प्रतिरोध का रास्ता अख्तियार कर रहे हैं. उनके मेंहनत की कमाई सूदखोर और पूंजीपति दोनों खा रहे हैं.उनके श्रम का खुलेआम शोषण हो रहा है. किसान के प्रतिरोध का विश्लेषण समकालीन पत्रिकाएं हंस, फिलहाल और समयांतर के संदर्भ में करेंगे. किसान आंदोलनों के दो महत्पूर्ण पहलू हैं.

आज किसान खेती के लिए जमीन बचाने का प्रतिरोध कर रहे हैं. इन किसानों में छोटे और मध्यम किसानों की संख्या बहुतायत है. इन किसानों का जीवन कृषि पर ही निर्भर रहता है. ये प्रतिरोध जमीन के साथ जंगल को बचाने के लिए भी हो रहा है. किसान अपने श्रम की लूट, महंगी होती कृषि लागत और सस्ता उत्पादन माल के साथ राजसत्ता के नीतिगत व भ्रष्टाचार के खिलाफ भी आन्दोलित हो रहे हैं. खाने, रहने, जीने और अभिव्यक्ति के बुनियादी अधिकार के साथ सामाजिक बराबरी, आत्मसम्मान के पक्ष में प्रतिरोध करने को किसान मजबूर हो रहे हैं.

दूसरा भूमिहीन किसान जमीन पर अपने हक के लिए भी संघर्ष कर रहें है जिसके के दो रूप है. पहला, जमीन का अधिकार लड़कर, छीनकर लेंगे, ये भूमिहीन किसान का बुनियादी अधिकार है. यह रास्ता वर्ग दृष्टिकोण से शिक्षित और राजनीतिक चेतनाशील किसानों ने अपनाया है. दूसरा एन०जी०ओ० का मानवतावादी दृष्टिकोण है, राज्य व्यवस्था से 'भूमि सुधार आयोग' बनाने और भूमि से सम्बंधित कानून लागू करने के लिए आन्दोलन करते हैं. जब वर्ग विभाजित सत्ता को कोई लाभ या विवशता दिखेगी तो उसके द्वारा उत्पीड़ित भूमिहीन किसानों को खैरात के रूप में कुछ जमीन आवंटित की जा सकती है. इस प्रकार यह ऐसे आन्दोलनों की उपलब्धि हो जाएगी.

पिछले कुछ सालों से खेती योग्य जमीन, हरे-भरे जंगल, नदियों और पहाड़ों से आने वाला स्वच्छ जल, पहाड़ों में छिपी खनिज सम्पदा आदि सामुदायिक, सार्वजनिक, प्राकृतिक और गरीबों की इस सम्पत्ति को निजी घरानों और राज्यसत्ता द्वारा छीना जा रहा है. यह सब जनकल्याण की आड़ और देश के विकास के नाम पर हो रहा है. इस सम्पत्ति को छीनने के लिए 'नीतिगत वैधानिक कानून से लेकर तथा हर तरह के प्रयास जारी हैं. इस सम्पत्ति पर मुट्ठीभर पूंजीपति कब्जा करना चाहते हैं इस कार्य में राज्यसत्ता उनका पूरा साथ देती है. वास्तिवक रूप में इस सम्पदा के मालिक देश की उत्पीड़ित जनता है. राज्य सत्ता और उत्पीड़ित जनता में अन्तर्विरोध पैदा हो रहा है. राजसत्ता की संरचनाएं सेना, पुलिस, कोर्ट, पूंजीपतियों की निजी एवं भाड़े की सेना का संघर्ष गरीब किसान और मजदूर के साथ चल रहा है. इस संघर्ष में अधिकतर जगह शोषणकारी वर्ग ही जीत रहा है. मार्क्स ने इस सन्दर्भ में कहा है ''आज तक अस्तित्वमान समस्त समाज का इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है. स्वतंत्र नागरिक और दास, पैट्रीशयन और प्लेवियन, सामन्त और भूदास, गिलड मास्टर और कमेंरा - संक्षेप में उत्पीड़क और उत्पीड़ित एक दूसरे का अविरत विरोध करते, निरन्तर कभी छिपी, तो कभी प्रकट लड़ाई लड़ते आये हैं. ऐसी लड़ाई जिसका अंत हर बार या तो पूरे समाज के क्रांतिकारी पुनर्गठन में या संघर्षरत वर्गों की आम बर्बादी में हुआ है.''[38] इसी सन्दर्भ में देश के अधिकतर उत्पीड़ित किसान वर्ग का आन्दोलन बर्बाद ही हुआ है. कुछ एक जगह किसान आन्दोलन ने सार्थक सफलता अर्जित की है. अगर ये किसान आन्दोलन एक स्तर पर सफल हुए हैं तो इसके क्या कारण रहे हैं?

जमीन भौतिक जीवन की जीविका और प्रतिष्ठा का सवाल भी बन जा रही है. इस जर्जर सामंती संरचना की जड़ ग्रामीण भूमिव्यवस्था है.यहां जमींदार बड़े किसानों से भूमिहीन और सीमान्त किसानों के बीच अन्तर्विरोध पनपता है. दोनों वर्गों के हित टकराते हैं. ये कभी सामाजिक कभी आर्थिक सीमाओं का अतिक्रमण करता है. देश के पूर्वी भाग में ये अंतर्विरोध खुलकर सामने आया है. खेत खलिहानों से लेकर गांव, गली तक खूब जुल्म और दमन किया गया है. यह संघर्ष भूमिहीन मजदूर और छोटे किसानों की न्यूनतम मजदूरी, जमीन पर भूमिहीन का बराबरी का हक, एवं शासक वर्ग द्वारा शोषण, जुल्म और दमन के खिलाफ संघर्ष के कारणों को प्रसिद्ध पत्रकार पुण्य प्रसुन वाजपेयी बताते हैं ''जहां तक जमींदारों का सवाल है वे

न्यनूतम मजदूरी भी नहीं देना चाहते. उनका कहना है कि कृषि उत्पादन कम होने से वे खुद ही संकट में हैं. वहीं जो न्यूनतम मजदूरी सरकार ने तय की है वही अपनी जगह इतनी कम है कि किसी भी मजदूर के परिवार का पेट एक या दो की मजदूरी नहीं भर सकता".[40] ऐसे में ये खेतिहर मजदूर क्या करें? किसानों के प्रतिरोध की दूसरी मुख्य वजह जमीन आवंटन को लेकर है.''जमीन का आवंटन मुख्यतः गैर मजरूआ जमीन का जो कि गैर कानूनी रूप से शक्तिशाली मालिकों के कब्जे में है. इस क्षेत्र में वर्चस्व की लड़ाई का मुख्य कारण है.... उत्पादकता के बढ़ने और मुनाफे वाली गेहूं की खेती में बढोत्तरी की वजह से सोफी और बेकार पड़ी जमीन को खेती योग्य बनाया गया.''36 ''जमीन जोतने वाले की'' नारा भी दिया गया. जागरूक, चेतनशील राजनीतिक रूप से शिक्षित, प्रशिक्षित गरीब जतना संघर्ष के लिए तैयार हो रही थी. सामाजिक और आर्थिक और राजनीतिक रूप से गरीब जनता का प्रतिनिधि नक्सलीधारा में एमएल (ग्रुप) (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) समूहों ने किया था. सामंती जमीदारों ने इस जन-संघर्ष के विरोध के लिए निजी सेना का गठन किया. इसके साथ-साथ राज्य व्यवस्था ने अपने स्वभाव और वर्ग हित के अनुरूप सैनिक व अन्य हरसंभव मदद की. जब ये ताकतें लड़ाई हराने लगी तब इनका नेतृत्व आधुनिक हथियार चलाने में निपुण पेशेवर सेना को गरीब जनता के खिलाफ उतार दिया. संघर्षशील-जुझारू जनता संगठित होकर शोषण, दमन, जुल्म को मुहतोड़ जवाब दे रही है. बिहार के बारे में पुण्य प्रसुन अपने लेख में बताते हैं ''सिर्फ पिछले दस वर्षों में 72 नरसंहार में 494 लोग मारे गए, वहां की व्यवस्था को किस खाकें में रखा जाए?''[41] जातीय एवं वर्ग संघर्ष में राज्यसत्ता का पक्ष स्पष्ट है. शोषित, दमित जनता पर इतने बड़े हमले होते हैं.'लोकतांत्रिक बराबरी का दंभ भरने वाली व्यवस्था कहां छुप जाती है? जब दमन हिंसा और उत्पीड़न से बचने के लिए जनता अन्तिम रूप से विरोध करती है तो 'कानून व्यवस्था, शान्ति और सयंम' के नाम पर सेना और दमनकारी मशीनरी भेजकर ये संस्थाएं उन विद्रोंहों दवा देती है.

भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था को अधिकतर आन्दोलनकारी जनसंगठन अर्धसामंती और अर्ध औपनिवेशिक'' दायरे में मानते हैं. जब किसी व्यवस्थ का चरित्र इस आधार पर विश्लेषित किया जाता है तो वह शोषण और संघर्ष की रूप रेखा भी अलग निर्धारित कराती है. 'फिलहाल' पत्रिका में ग्रामीण

अर्थव्यवस्था के उत्पादन सम्बधों को लेकर लम्बी बहस चल रही थी. आर एस राव ने लिखा- ''साम्राज्यवादी शासन ने उपनिवेशों में वहां की सामंती व्यवस्था के साथ गठबंधन कायम किया हुआ था.''[42] साम्राज्यवादी शासकों ने राजनीतिक सत्ता इन्हीं सामंतों को सौंप दी थी.

फिलहाल, (मासिक). नवम्बर, 2004 'धर्मवीर' ने हरियाणा के खेतिहर समाज का अध्ययन करते हुए एक लेख लिखा था.''हरियाणा में हरित क्रांति से कितनी बदली खेती, कितना बदला खेतिहार समाज.'' इसमें इन्होंने माल, उत्पादन और बाजार के समीकरण को पूंजीवाद के विपरीत पाया. कर्ज व्यवस्था का उदहारण देते हुए इस सन्दर्भ में अपने लेख में लिखते हैं ''पूरा ग्रामीण समाज भंयकर तौर पर सूदखोरी में जकड़ा हुआ है. खासतौर पर ग्रामीण मजदूर, गरीब किसान और मध्यम किसानों का बड़ा हिस्सा आढ़तियों और जमीदारों से कर्ज लेता है."[43] खेतिहर मजदूर को नगद मजदूरी की जगह उन्होंने अनाज लेते दिखाया है. अनाज स्वैच्छा से नहीं मजबूरीवश लेना ही ग्रामीण मजदूर का बन्धुआपन है. ग्रामीण अर्थव्यवस्था में रहने के लिए श्रमिक पूर्णतःस्वतंत्र नहीं है और जीविका के लिए जरुरी रोजगार भी नहीं है.खेतिहर मजदूर वर्ग रोजगार के लिए परम्परागत हस्त एवं कुटीर उद्योग की तरफ ही जा रहा है. इन कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं के आधार पर 'धमवरी' ने जमीन आवंटन की जरूरत को दर्शाया है. ''47 प्रतिशत किसानों के पास मात्र 40, 4,155 हेक्टेयर जमीन है वहीं ऊपर के 4.71 प्रतिशत जमींदारेां के पास 10,10, 422 हेक्टेयर जमीन है. अगर जमींदारों की यह तमाम जमीन भूमिहीन और गरीब किसानों में बांट दी जाए तो हर ग्रामीण मेहनतकश के पास कम से कम 1.3 एकड़ जमीन हो जाएगी. जमीन का वितरण करके ही ग्रामीण हरियाणा की बेरोजगारी की समस्या का तुरन्त समाधान हो सकेगा. देश के अन्य हिस्सों की तरह हरियाणा के ग्रामीण समाज की समस्या जमीन ही है. खेत मजदूरों और गरीब किसानों की जमींदारों और आढ़तियों पर तमाम आर्थिक सामाजिक-राजनीतिक निर्भरता को जमीन बंटवारे के साथ खत्म किया जा सकता है.''[44]

धर्मवीर के इसी लेख 'हरियाणा में हरित क्रांति: कितनी बदली खेती, कितना बदला खेतिहर समाज'नवंबर 2004. के प्रतिवाद में दिगंबर ने एक लेख 'हरियाणा के खेतिहर समाज का सच'. फरवरी 2005 में लिखा. और इसी बहस को आगे बढ़ाते हुए. 'कर्मवीर' ने लेख लिखा 'बदल चुका है भारत का

खेतहर समाज' अप्रैल 2005. इसी अंक में इसी बहस के सन्दर्भ में 'सुखदेव' ने एक लेख लिखा 'भूमि वितरण एक प्रतिक्रियावादी मांग है'. इन बहसनूमा लेखों में किसान जीवन और ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर सवाल खड़े किए गए हैं. इन लेखों में अर्धसामंती, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को ये लोग सम्पूर्णता में कृषि अर्थव्यस्था में ले आए हैं. ये लोग अर्धसामंती संरचनाओं को समाज में मुख्य अन्तर्विरोध के रूप में नहीं मानते. इस के लिए इन लेखकों ने ठोस और तार्किक तथ्य प्रस्तुत किए हैं. मजदूर सम्पत्ति विहीन हो गया, खेती पूंजी कमाने के लिए ही हो रही है सारा माल बाजार में जा रहा है. वहां से किसान भी खरीददारी कर रहे हैं. हमको इन उत्पादन संबंधों के सवाल को दिखाना था. जिससे प्रतिरोध और आन्दोलन की रूप रेखा बनती है. यह सैद्धांतिक और वैचारिक बहस का व्यवहारिक प्रयोग, जमीन आवंटन और 'भूमि सुधार' के रूप में देश के कुछ भागों में किया जा रहा है. देश का चरित्र अर्धसामंती-अर्ध औपनिवेशिक मानने वालें बुद्धजीवी इसका नेतृत्व कर रहे हैं.

जब ग्रामीण समाज की समस्याओं का ठोस विश्लेषण नहीं होगा तो ग्रामीण कृषि अर्थव्यवस्था का अंतर्विरोध कैसे पता चलेगा? उत्पीड़ित वर्ग बदलाव कैसे करेगा? इन्हीं अंतर्विरोधों के आधार पर आन्दोलन होते हैं. इसी आधार से समाज का क्रांतिकारी बदलाव भी संभव हो पाएगा. आज भूमिहीन को जमीन बांटने की जगह पर राज्य सत्ता किसानों की जमीन छीन-छीन कर बड़े-बड़े देशी-विदेशी कारपोरेट घरानों को सौंप रही है. जहां छीना-झपटी का सामूहिक सांगठनिक प्रतिरोध हुआ है वहां से राजसत्ता की सरकारी मशीनरी के साथ पूंजीपतियों की निजी सेना और उनके गुण्डों को अपने इरादे बदलकर वहां (जमीन अधिग्रहण वाले क्षेत्र) से भागना पड़ा है. ''2006 के 12 सितम्बर को हल्दिया विकास प्राधिकरण ने भारत सरकार में विशेष आर्थिक क्षेत्र (सेज) परियोजना के अंतर्गत नन्दीग्राम 1 में केमिकल हब के लिए 19 हजार एकड़ भूमि के अधिग्रहण की अधिसूचना जारी की थी. सेज के अंतर्गत इंडोनेशिया की सलेम ग्रुप कम्पनी का एक विशाल रासायनिक कारखाना लगाने का प्रस्ताव स्वीकृत किया गया था.''[45] जिसका वहां के किसानों ने विरोध शुरू कर दिया था.

आन्दोलन कर रहे निहत्थे किसानों पर पुलिस ने गोली चलाई. जिसमें कम से कम 14 निर्दोष किसान मारे गए. इसी तरह सिंगूर में टाटा नैनोकार प्लांट के विरोध में किसानों के विरोध प्रदर्शन पर पुलिस ने गोली चलाई उसमें भी 14 किसानों की हत्या कर दी गई. सरकारी संस्था में निजी सेना का उत्पाद, दमन, अत्याचार की कहानियां अलग अलग हैं. इन दोनों जगह हत्याओं के गैर सरकारी आंकड़े बहुत ज्यादा है.'लोकतंत्र' के सारे दरवाजों से निराश होकर सिंगूर, नन्दीग्राम के किसानों ने खुद लड़कर न्याय लेने का संकल्प लिया. किसानों ने अपने प्रतिरोध के स्वर की ताकत को समझा. इन किसानों को यह रास्ता अन्तिम विकल्प के रूप में दिखा. उसका उन्होने चुनाव किया. अंततः भारी भरकम फौज के साथ देशी-विदेशी, बहुराष्ट्रीय कम्पनी को वापस बैरंग लौटना पड़ा. बंगाल में एक बार फिर सेज के तहत जमीन अधिग्रहण करने की कोशिश की गई इस बार किसान राज्यसत्ता के हर सवाल का माकूल जवाब देने को तैयार थे. उन्होंने अपने आस-पास के अनुभव से सीखते हुए वस्तुनिष्ठ दृष्टि से उचित रास्ता अपनाया.''लालगढ़-झाड़ग्राम-शालबानी इलाके में विशेष आर्थिक क्षेत्र (स्पेशल इकोनॉमिक जोन) की स्थापना आदिवासियों के इसी अस्तित्व संघर्ष से जुड़ा हुआ एक प्रश्न है. लगभग 5000 एकड़ भूमि विशेष आर्थिक क्षेत्र के लिए रेखांकित की गई है. इसमें 35,000 करोड़ लागत की जिन्दल इस्पात परियोजना लगाने का प्रस्ताव है. इसमें से 4500 एकड़ राज्य सरकार के अधिकार क्षेत्र में आता है. इसे जिन्दल समूह को आवंटित किया जा चुका है."[46] ये भूमि भूमिहीन आदिवासी को देने की योजना थी. राज्यसत्ता की यह वर्ग पक्षधरता ही है कि उसी अनरूप पूंजीपति जिंदल समूह को जमीन दान में दे दी गई. इस विशाल भूखंड का अधिकांश भाग भूमि सुधार योजना के अन्तर्गत भूमिहीन आदिवासियें को देने के लिए राज्य सरकार नीतिबद्ध है. लेकिन विशेष आर्थिक क्षेत्र घोषित होने के बाद आदिवासी मिलने वाली भूमि से वंचित ही नहीं होंगे बल्कि विस्थापन की स्थिति से भी जूझेंगे. आदिवासियों के लिए प्रस्तावति परियोजना का विरोध कोई वैचारिक लड़ाई नहीं; यह उनके अस्तित्व की लड़ाई है,"[47]

इस संघर्ष में राज्य मशीनरी और पेशेवर निजी सेना (जिसमें सीपीएम की हरमदवाहिनी भी शामिल है) ने मार-पीट, हत्या बलात्कार ऐसी घटनाओं को आम बना दिया. "दमन के लिए बड़ी संख्या में

अर्द्धसैनिकों ने घुसपैठ कर दी. 'अपने लोग' जो जीने खाने और शांति से रहने का बुनियादी अधिकार चाहते हैं सत्ता अपने स्वार्थ के लिए उनका शोषण और दमन करती है. दमन-जुल्म के लिए राज्य सत्ता क्या-क्या इस्तेमाल करती है.18 जून को सुबह सुरक्षा बल की आठ कम्पनियों परीकोटा के जंगलों में उतरीं. उनके अत्याधुनिक स्वचालित हथियारों के सामने थे लगभग 2000 आदिवासी पुरुष, स्त्रियां और बच्चे. अपने परंपरागत तीर धनुष और टांगी थामें. रक्तपात की यह शुरूआत थी. बारह दिन चले सैन्य अभियान में शामिल थे राज्य पुलिस के 3,000 सशस्त्र जवान, केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल की 6 कम्पनियां, साथ में आकाश से निरंतर निगरानी के लिए भारतीय वायुसेना के हेलीकॉप्टर भी थे."[48]

राज्य हिंसा के विरूद्ध अपने अस्तित्व को बचाने के लिए प्रति हिंसा अनिवार्य शर्त बन गयी. जहाँ नीतिगत हिंसा के खिलाफ अन्य विकल्प अनुपस्थित हों वहां कोई क्या करेगा? लालगढ़ पश्चिम बंगाल के गरीब किसान बचाव के लिए हर जरूरी कदम उठाते हैं ''नवम्बर6, 12 हजार आदिवासियों ने लालगढ़ थाने के सामने प्रदर्शन किया. सात नवम्बर को अपने पारंपरिक हथियारेां से लैस दस हजार संथाली मर्द-औरतों ने पुलिस की गाड़ी और सीपीएम के हथियारबंद दस्ते हरमदवाहिनी की बाइकों को गांव में घुसने से रोकने के लिए सड़कें खोद डाली और लालगढ़ को मेंदिनीपुर और बंकुरा से काट दिया. उन्होंने बिजली और फोन के तार भी काट डाले. वे दस हजार लोग रामगढ़-लालगढ़ मार्ग में दलीलपुर चौक पर अब एक प्रतिरोधी जुलूस की शक्ल में बदल गए. बड़ी तेजी और व्यापकता के साथ आन्दोलन अब एक बहुत बड़े इलाके में मिल गया. ये इलाके पुलिस और सीपीएम की किसी भी पहुंच से बाहर आते गए.8 नवम्बर को दलीलपुर चौक पर 95 गांवों के प्रतिनिधि और आम लोग जमा हुए. उन्होंने पुलिस और सीपीएम के आतंक से निजात पाने और लड़ने की योजनएं बनाई है.''[49]

समकालीन दौर में किसानेां के संघर्ष का तरीका रणनीतिक रूप से अच्छा रहा. इस बहिष्कार से सेना का मनोबल और राज्यसत्ता का वर्चस्व गिरने लगा. अंततः राज्यसत्ता को वहां से अपनी फौज हटानी पड़ी. इस संदर्भ में 'फिलहाल' में छपे लेख में महत्वपूर्ण बिन्दु है.''पुलिस के सामाजिक बहिष्कार का फैसला लिया इसके बाद पुलिस के लिए इलाके में रहना मुश्किल हो गया. दुकानदारों, नाईयों और दूसरे पेशेवालों ने

पुलिस को सेवाएं देने से मना कर दिया. पानी सप्लाई भी बंद कर दिया गया. पुलिस के लिए यहां रहना मुश्किल हो गया. अधिकतर इलाकों से पुलिस कैम्प और थाने छोड़ कर भाग गई. जहां वह रह भी गई, वहां सिर्फ थानों तक सीमित रहीं. स्थिति यहां तक पहुंच गयी कि कलईमुरी में स्थित अर्द्धसैनिक बलों के कैंप में मौजूद लगभग 150 सैनिक तीन दिन तक भूखे-प्यासे रहने के बाद भाग निकले, पुलिस का अत्याचार यहां के लोगों के लिए नया नहीं था. जो नया था वह यह था कि लोगों में पुलिस के खिलाफ डर खत्म हो गया था. लेकिन यहां आकर लालगढ़ के आंदोलन ने आगे की ओर एक ऊंची छलांग लगाई. इसे हम सुनेंगे लालगढ़ की गलियों में घूमते हुए वहां के लोगों की जुबानी?"[50]

यह किसानों के प्रतिरोध का अद्भुत नमूना था. उनकी सांगठनिक एकता ने राज्यवस्था और हितैषी वर्ग को साफ संदेश दे दिया. हम सिर्फ अपने वर्ग के साथ संगठित हो जाए तो कोई भी सत्ता हमारे खिलाफ शोषण, जुल्म और दमन नहीं कर पाएगी. बंगाल के किसानों ने नन्दीग्राम, सिंगुर और लालगढ़ सार्थक और तात्कालिक सफलता अर्जित की. लालगढ़ के किसानों ने भारतीय राज्य व्यवस्था से काटकर 'मुक्तांचल घोषित कर दिया था. बाद में भारतीय अर्द्धसैनिक बल और बंगाल पुलिस ने (21 जून से 29 जून 2009) तक स्पेशल ऑपरेशन चलाकर वहां के आन्दोलन को कुचलने का प्रयास किय. लालगढ़ के किसानों की 'मुक्ति' थी या शोषण करने के लिए गुलामी. उत्पीड़ित और शोषित वर्ग की मुक्ति कैसे होगी? इन आन्दोलनों ने हमारे समय के जीवन्त सवाल को खड़ा किया. उत्पीड़ित वर्ग की मुक्ति के सवाल पर भारत सहित दुनिया में विचार विमर्श और बहस चल रही है. ये मार्क्सवाद के अन्दर और बाहर दोनों तरह से देखा जा रहा है. भारत में जनता की मुक्ति का कौन सा रास्ता कारगर और बेहतर होगा. ऐसे सवालों को लेकर लालगढ़, सिंगुर और नन्दीग्राम ने व्यवहारिक प्रश्न खड़ा किया है.

उड़ीसा के जगतपुर जिले में पास्को कम्पनी द्वारा भी जमीन अधिग्रहण की गयी. यहां से भी किसान प्रतिरोध के तीखे स्वर सुनाई पड़ने लगे थे. उड़ीसा सरकार और पास्को के बीच क्या समझौता हुआ? पास्को से बुद्धिजीवी, पत्रकार प्रशांत हलदर बताते हैं ''22 जून 2005 उड़ीसा सरकार और दक्षिण कोरिया की पोहांग स्टील कम्पनी (संक्षेप में पास्को) के बीच एक समझौता हुआ था. इसके अनुसार पास्को 51 हजार

करोड़ रु. निवेश कर साल 2016 तक एक करोड़ बीस लाख टन इस्पात का उत्पादन करेगा. इस परियोजना के अन्तर्गत् पारादीप बंदरगाह के नजदीक पास्को अपना एक निजी बंदरगाह बनाएगा."[51] पास्को को खनिज सम्पदा का दोहन करने के लिए जमीन चाहिए. इस बंदरगाह से इस सम्पदा को आसानी से लूटकर ले जा सके. इस लूट की योजना का पर्दाफाश करते हुए लिखते हैं ''पास्को लौह अयस्क लेना चाहती है, भारत में मौजूद 1800 करोड़ टन लौह अयस्क भंडार का 450 करोड़ टन उड़ीसा में है. पास्को यहां से 6000 लाख टन लौह अयस्क निकालेगा. जिसमें से 4000 लाख टन लौह अयस्क दक्षिण कोरिया स्थित अपने स्टील प्लांट के लिए ले जाएगा. लौह अयस्क दक्षिण कोरिया स्थित अपने स्टील प्लांट के लिए ले जाएगा. लौह अयस्क की मौजूदा चालू दर 2000 रुपया प्रति टन है. पास्को मात्र 400 रूपया प्रतिटन देगा.''[52]

देश की सार्वजनिक और प्राकृतिक सम्पत्ति को लूटने की खुली छुट है. इस कार्य में विधि के साथ नीतिगत रूप से भारतीय राज्य सत्ता कारपोरेट से लूट करवा रही है. इसकी कीमत मेंहनतकश गरीब मजदूर चुका रहे हैं. जिससे सामूहिक और निजी लूट से जन-समुदाय अपने जमीन से विस्थापित हो रहे हैं. इसी लेख में इस परियोजना से विस्थापित होने वाले की जमीन और लोगों की संख्या बताते हैं ''एरसम प्रखंड के नुआगांव, गडकुजंग और दनकिया पंचायत के सात मालगुजारी गांव और चार छोटे गांव यानी कुल ग्यारह गांव प्रस्तावित पास्को परियोजना के अंदर आते हैं. कुल 4004 एकड़ जमीन निजी है. सरकारी आंकड़ों के अनुसार क्षतिग्रस्त परिवारों की संख्या 471 है. जबकि 2001 की जनगणना के अनुसार इन तीन पंचायतों के कुल 3350 परिवारों में 22000 लोगों की आबादी है.''[53] ये आबादी यहां कृषि पर गुजारा करती है. बालू जमीन और मीठा पानी होने की वजह से पान की अच्छी खेती होती है. परियोजना लागू करने की वजह से यह आबादी अपनी जड़ों से, जमीन से, व्यवसाय से कटकर कहां जाए? क्या करे? इन सवालों के जवाब न तो भारत और उड़ीसा सरकार के पास है और नहीं पास्को जैसी कम्पनी के पास. इसलिए जन-समुदाय खुद ही इन सवालों को खोजना शुरू कर दिये और संगठित होकर प्रतिरोध का विकल्प चुना. ये विकल्प वास्तविक रूप में उनके जीवन और जीविका के लिए अनिवार्य था. "किसानों के सांगठनिक और रणनीतिक हिसाब से अपने क्षेत्र को बचाने के लिए सामूहिक गांव में दाखिल होते ही प्रतिरोध संग्राम समिति का बोर्ड गेट लगाने

लगा था और कुछ नौजवानों का चौकस पहरा.''[54] सरकार ने भी दमन करने और आन्दोलन को अलग-थलग करने के लिए इस घेराबंदी को नाकेबंदी में बदल दिया.

नाकेबंदी के साथ-साथ पुलिस के अलावा पेशेवर गुण्ड़ों से आंदोलन पर हमला भी कराया. किसान आंदोलन के समर्थन में किसी को आने जाने नहीं दिया जा रहा है. लेखक बताते हैं कि 29 नवंबर को बालिदुघ पर हमारे ऊपर हमले किए जाने के बाद से स्थिति आमने-सामने मुठभेड़ की आ गई है. न तो दिनकिया के लोगों को बाहर निकलने दिया जा रहा है और न ही दूसरे गांव के लोगों को दिनकिया आने जाने दिया जा रहा है. सरकार और पास्को के अधिकारी दिनकिया को प्रतिरोध का केंन्द्र समझते हैं. इसलिए पुलिस ने दिनकिया की नांकेबंदी कर अगल-थलग करने की योजना बनाई है."[55] सरकार और उत्पीड़ित किसानों में काफी लंबा संघर्ष चला. अततः सरकार ने पास्को का मंजूरी दे दी. यहाँ किसान प्रतिरोध होने के बावजूद वह अपने अस्तित्व को बचा नहीं पा रहे थे. इसके क्या कारण हैं? ये किसान आन्दोलन के संदर्भ में महत्वपूर्ण सवाल बन रहे हैं.

समकालीन समय में सेज के व अन्य तरह से जमीन अधिग्रहण आदि के खिलाफ किसान प्रतिरोध कर रहे हैं. जब किसान जमीन बचाने में असमर्थ हो जाते हैं तब जमीन का सही कीमत लेने की सोचते हैं. सरकार और कंपनियां मिलकर किसानों की जमीन सस्ते कीमत पर लेने की फिराक में रहती है. इस वजह से भी किसान आंदोलित हो रहे हैं. उत्तर प्रदेश में पिछले दस सालों में उचित मुहावजे के लिए कई महत्वपूर्ण किसान आंदोलन हुए. वैसे उत्तर प्रदेश की जमीन अधिग्रहण के बारे 'जाहिद खान' अपने लेख 'किसान फिर लाभ पर' में बताते हैं कि प्रदेश सरकार ने पिछले सालों में सरकारी क्षेत्र में पांच स्पेशल इकांनामिक जोन (एस.ई.जेड) विशेष आर्थिक क्षेत्र के आलावा निजी क्षेत्र के 20 आर्थिक क्षेत्र के प्रस्तावों को मंजूरी दी. ये सब विशेष आर्थिक जोन किसानों की जमीनों की कीमत पर है. सरकार ने किसानों की बेशकीमती जमीनों को पूजीपतियों के हाथों कोड़ियों के भाव बेच दिया. किसानों के जीवन यापन का जरिया रही जमीनों को अधिग्रहित कर लिया गया. विकास में किसानों की हिस्सेदारी का सपना दिखाकर उन्हें अपनी जमीन से बेदखल कर दिया गया. आलम यह है कि उचित मुआवजे के अभाव में वे दर-दर भटक रहे हैं."[56]

दादरी (उत्तर प्रदेश) मुलायम सिंह के शासनकाल में गाजियाबाद जिले में दादरी में 2500 एकड़ भूमि का अधिग्रहण रिलायंस (अनिल अंबानी समूह) के गैस आधारित पाँवर प्लांट के लिए किया गया था. किसान मुआवजे की रकम से असंतुष्ट थे. इन किसानों का नेतृत्व पूर्व मुख्यमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने किया था. विश्वनाथ प्रताप सिंह ने भारतीय किसान को जो दिया है उसके लिए वे प्रशंसा के पात्र हैं पर उनकी सीमा भी साफ है. उचित मुआवजे को लेकर टप्पल (अलीगढ) भट्टा परसौल (ग्रेटर नोयडा) किसान संधर्ष कर रहे थे. जिसमें 6 किसानों और 4 पुलिस कर्मियों की मौत हो जाती है. सरकार किसानों को कानून तोड़ने के जुर्म में बंद कर देती है उनके वास्तविक नेतृत्व पर संगीन धाराओं में मुकदमा दर्ज कर लेती है. ये अधिकाशतः आंदोलनों की विपक्षी पार्टियों ल्उती ळै जो सरकार बदलने में दिलचस्पी लेकर किसानों को उनके हाल पर छोड़ देती है. किसानों को अपनी लड़ाई लड़ने के लिए इन पार्टियों से आगे निकलकर खुद ही नेतृत्व करने के लिए तैयार रहना होगा. इन पार्टियों के चरित्र को लेकर किसान नेता सुनीलम बताते है कि किस राज्य में किसकी सरकार उस हिसाब से विरोध करती है. अगर वहीं परियोजना उनके यहां आती है तो वे पार्टी सरकार में लागू कर देते हैं.

'उत्तर प्रदेश' के किसान आंदोलन की स्थिति से अलग छिंदवाड़ा के चौसरा क्षेत्र में चल रहे किसान आंदोलन को कांग्रेस विपक्षी के तौर पर साथ देने की बजाय; कुचलने के लिए नेताओं पर हमला तक करा रही है. उ.प्र. में कांग्रेस और भाजपा दोनों किसानों के सवालों को उठा रहे हैं. कांग्रेस की ओर से राहुल बाबा तथा दिग्विजय सिंह मैदान में डंटे हुए हैं. भाजपा की ओर से राजनाथ सिंह जगह-जगह आंदोलनों को समर्थन देने पहुँच रहे हैं. तथा कलराज मिश्र किसान आंदोलन को सर्मथन देने पहुँच रहे है.छिदवाड़ा दोनों पार्टियों द्वारा अडाणी का साथ देने से यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि दोनों पार्टियों की भूमि अधिग्रहण तथ औद्यौगीकरण के संबंध में कोई एक राष्ट्रीय नीति नहीं हैं. दोनों पार्टियां राजनैतिक लाभ लेने के लिए उ.प्र. में किसान आंदोलन का सर्मथन कर रही है. कमोवेश ऐसी स्थिति उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी और समाजवादी पार्टी में है. जो विपक्ष में होता है वहीं किसान प्रतिरोध में राजनीतिक लाभ के लिए कूद पड़ता है.

पुलिस और सेना के दमन-जुल्म के साथ सरकार तथा कंपनी के मालिक किसान और उनके नेताओं का मनोबल तोड़ने के लिए अराजक तत्वों से भी हमला करते है. इसका उदाहरण छिदंवाड़ा में अडाणी की परियोजना के लिए भू-अधिग्रहण के विरोध में किसान आंदोलन पर हमला हुआ ओर राज्य मशनरी और उनकी संरचनाऐं किसके पक्ष में खड़ा दिखाई देती है. किसान आंदोलन के इस नीति के खिलाफ इसी लेख में सुनीलम बताते हैं 'हम मध्य प्रदेश में छिदंवाड़ा जिले के भूलामोह गांव से अडाणी की दो परियोजना के लिए भूमि-अधिग्रहण के विरोध में 28 से 31 मई के बीच होने वाली पद यात्रा में कार्यक्रम का अन्तिम रुप देकर लौट रहे थे. दो बार प्रयास के बाद मेंरी जीप के कांच तोड़ कर लाठियों से मुझ पर पर हमला कर मेंरे दोनों हाथ तोड़ दिए और सिर में चोट मारी. आडाणी प्रोजेक्ट तथ पेंच व्यपवर्धन परियोजना में प्रभावित किसान आंदोलन का नेतृत्व कर रही अराधना भार्गव को लाठियों से पीटे जाने के चलते सिर में 10 टांके लगे तथा एक हाथ की हड्डी टूट गई. जब हमला हुआ तभी अराधना भार्गव ने पुलिस अधीक्षक छिदंवाड़ा को फोन पर हमले तथा उसके लिए इस्तेमाल गाड़ियों के नंबरों की जानकारी दी, मेरी बात भी कराई लेकिन म.प्र पुलिस को 14 कि.मी की दूरी तय करने में ढाई घंटा लगा. पुलिस ने हत्या के प्रयास का मुकदमा दर्ज करने के बजाय धारा 323 साधरण मारपीट का मामला दर्ज कर लिया."[57] किसान और आन्दोलनकारी नेता इन हमलों से अपना बचाव करते है तो उन्हें 'देशद्रोही' 'राष्ट्र और किसान विरोधी' घोषित करके उन्हें फर्जी मुकदमों में फंसा दिया जाता है. अब ऐसी वस्तुनिष्ट परिस्थितियों में किसान क्या करे? कैसे उन्हें शोषण, उत्पीड़न और जुल्म से आजादी मिले? ये किसान जीवन के मौजूदा समय के महत्वपूर्ण सवाल बनकर ऊभर रहे कुछ संदर्भ हैं जिसका लागत की समता पर ध्यान देना जरुरी है.टिप्पड़ी

किसान आंदोलन का भविष्य

किसान आंदोलनों की जो दिशा दिख रही है उससे लगता है उन किसानों का भविष्य बहुत उज्ज्वल नहीं है. किसान आंदोंलनों के इतिहास और समकालीन दो वर्गीय दृष्टिकोण की राजनैतिक चेतना से लड़े गए आंदोलन की समीक्षा के आधार पर लगता है कि यह उत्पीड़न किसान वर्ग के शोषण, जुल्म, उत्पीड़न के आगे असानी से झुकने वाला नहीं है. किसान अपने शोषक अर्थात अपने शत्रु को पहचानकर

उसके प्रति वर्गीय चेतना का निर्माण करते हुए मुक्ति के लिए लड़ाई का प्रशिक्षण और मुक्ति का मसौदा तैयार करे. अपने समाज में क्रांतिकारी दृष्टि और राजनीतिक शिक्षा का नया इतिहास दे. दरअसल किसान अकेले शोषण से मुक्ति नहीं पा सकते है. उन्हें हर शोषित वर्ग समुदाय के साथ ताल मेल बना-बैठाकर शोषक वर्ग के खिलाफ संगठित होकर पूरी क्षमता के साथ अपने हित में संधर्ष करना होगा. भविष्य की गर्त में छुपा हुआ उनका सुनहरा जीवन भविष्य में निखर सकता है. किसान आंदोलन के भविष्य को लेकर प्रसिद्ध हिन्दी आलोचक गोपाल प्रधान लिखते हैं "फिलहाल पलड़ा किसानों के विरोध में झुका हुआ है लेकिन भारत के किसानों में अपनी नियति को अतीत में कभी भी चुपचाप स्वीकार नहीं किया है और भविष्य में भी वे जिंदल, अंबानी, सहारा और रिलायंस जैसे देश को बेचने वाले ओर दलाल कारोबारियों के सामने दंडवत नहीं करेंगे वे पूरे भारत में हर जगह नए-नए तरीके इजाद कर रहे हैं,लड़ रहे हैं और समुंदर, पानी, रेंत, मिट्टी सब को अपना हथियार बना रहे हैं इसी क्रम में उन्होंने धीरे-धीरे राजनीति और सरकार की प्राथमिकताओं को भी प्रभावित करना शुरु कर दिया है. आज से दस साल पहले भी कौन उम्मीद कर सकता था कि खुदूर तमिलनाडू के मछुआरे परमाणु परियोजना की जटिलताओं पर सोचेंगे और उनके विरोध में सारी सरकारों को धता बताते हुए आंदोलन करेंगे. निश्चय ही ये किसान आंदोलन देश में एक ऐसा शासन बनाएंगें जो भारत में अपना आर्थिक ढांचा खड़ा करने का सपना जमीन पर उतार सकें और विकास को सिर्फ आकड़ों की जादूगरी न मानकर मनुष्य के भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक समृद्धि के रुप में प्रभावित करे."[58] इस तरह का भविष्य बनाने के लिए किसानों को मजदूर व अन्य शोषित, उत्पीड़ित समुदाय के साथ मिलकर समाज में क्रान्तिकारी बदलाव करना पड़ेगा.

इस बदलाव के विरोध में साम्राज्यवादी व्यवस्था के साथ-साथ भारतीय राज्य व्यवस्था दमन और जुल्म ढाएगी. यह बदलाव शोषक वर्ग के विपरीत होगा. वर्तमान शोषणकारी व्यवस्था को बनाए रखने के समर्थक का जनता भी विरोध करेगी. जिसका हित इसी व्यवस्था में पूरा हो रहा है यह मेरी परिकल्पना ही है. भविष्य में किसानों और उनके आंदोलनों का क्या होगा ऐसा सहज अनुमान ही लगाया जा सकता है.

सन्दर्भ

1. रामशरण जोशी: किसान समाज और दूसरे संघर्षशील जन. (लेख) हंस, अगस्त, 2006. पृ.101.
2. एल. नटराजन: भारत के किसान विद्रोह (1850-1980). पृ.28.
3. वही. पृ 29.
4. अभय चरण दास: भारतीय किसान. पृ 54-55.
5. कलकत्ता रिव्यू (लेख) (1856). पृ 238 240.
6. वही. पृष्ठ० 238
7. वही. पृष्ठ० 239
8. वही. पृष्ठ० 240
9. वही. पृष्ठ० 245
10. एल. नटराजन: भारत के किसान विद्रोह (1850-1980). पृ. 38
11. वही पृ 40
12. वही पृ 39-40
13. वही पृ 36-37
14. वाही. पृष्ठ०43
15. एल. नटराजन: भारत के किसान विद्रोह (1850-1980). पृ.43
16. रामशरण जोशी: किसान समाज और दूसरे संघर्षशील जन. (लेख) हंस, अगस्त, 2006. पृ.101
17. वही. पृ.101
18. गणेश शंकर विद्यार्थी: प्रताप (सप्ताहिक, 23, जुलाई 1917), प्रताप कार्यालय कानपुर.
19. रामज्ञा शशिधर: किसान आंदोलन की साहित्यक जमीन. पृ 17.
20. महेद्र प्रताप: उत्तर प्रदेश में किसान आंदोलन. पृ. 58-59.
21. रामज्ञा शशिधर: किसान आंदोलन: वैचारिक परिपेक्ष्य. (लेख) हंस, अगस्त, 2006. पृ.129
22. वीर भारत तलवार (संपादक): नक्सलबाड़ी के दौर में. पृ.459.
23. वही. पृ 460
24. वही पृ 463
25. रामजी राय: भोजपुर का क्रांतिकारी किसान आंदोलन: एक झलक,(लेख). फिलहाल.नवंबर, 2005. पृ.14
26. विजय कुमार: आधुनिक भारतीय इतिहास के साहित्यिक स्त्रोत का एक अध्ययन पृष्ठ० 57

27. रामजी राय: भोजपुर का क्रांतिकारी किसान आंदोलन: एक झलक,(लेख). फिलहाल. नवंबर .2005 पृ.14
28. माओ-त्से-तुगं की प्रतिनिधि रचनाएं: खंड-एक: पृ.81
29. वीर भारत तलवार (संपादक): नक्सलबाड़ी के दौर में. पृ.457
30. रामजी राय: भोजपुर का क्रांतिकारी किसान आंदोलन: एक झलक, (लेख). फिलहाल. नवंबर ,2005. पृ.14.
31. लेनिन: राज्य और क्रांति. पीपुल्स पब्लिकेशन हाउस. नई दिल्ली. पृ. 09.
32. लेनिन: गांव के गरीबों से. राहुल फांउडेशन, लखनऊं. पृ. 59.
33. चारू मजूमदार: संग्रहित रचनाएं (1962-72). समकालीन प्रकाशन, पटना. पृ. 31-32.
34. लेनिन: राज्य और क्रांति. पीपुल्स पब्लिकेशन हाउस. नई दिल्ली पृ. 10.
35. लेनिन: राज्य और क्रांति. पीपुल्स पब्लिकेशन हाउस. नई दिल्ली पृ. 29.
36. चारू मजूमदार: संग्रहित रचनाएं (1962-72) समकालीन प्रकाशन, पटना. पृ. 36.
37. पूण्य प्रसून वाजपेयी: जनसत्ता. (दैनिक अखबार 1 जून 2014) नई दिल्ली. पृ. 08.
38. मार्क्स और ऐंगेल्स: कम्यूनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र. राहुल फांउडेशन, लखनऊ. पृ. 32-33.
39. पूण्य प्रसून वाजपेयी: भूमिसुधार और नरसंहार. समयांतर. (मासिक) जुलाई 2008. नईं दिल्ली पृ. 10-11.
40. वही. पृ. 09.
41. वही. पृष्ठ 09
42. आर. एस. राव: एक अर्द्ध सांमती अर्द्ध औपनिवेशिक समाज में आमूल परिवर्तन के आंदोलन: संदर्भ, सरोकार और सबक. फिलहाल (मासिक)अनवरी 2001,पटना पृष्ठ 09
43. धर्मवीर: हरियाणा में हरित क्रांति: कितनी बदली खेती कितना बदला कृषक समाज,(लेख). फिलहाल.(मासिक). नवंबर, 2004. पटना. पृ.15.
44. वही. पृ.18
45. पुष्पराज: नंदी ग्राम डायरी. पेंग्युइन बूक्स, नई दिल्ली. पृ. 11.
46. मदन केसरी: जंगल की टूट्ती चुप्पी,(लेख). फिलहाल. (मासिक) सितंबर 2009.पटना. पृ.5.
47. वही. पृ .06
48. वही. पृ. 06
49. रेयाजउल हक: जमीन जब पक रही थी: लालगढ़ से लौटकर (लेख). फिलहाल. (मासिक) सितंबर 2009.पटना. पृ.10

50. वही. पृष्ठ 11
51. प्रशांत हलदार: 'पास्को प्रतिरोध से लौटकर'. फिलहाल. मार्च-अप्रैल, 2004. पृ.11.
52. वही, पृ.16.
53. वही, पृ.17.
54. वही, पृ.19
55. वही, पृ.19.
56. जाहिद खान: किसान फिर लाम पर. समयांतर. अगस्त, 2006. पृ.07.
57. सुनीलम; किसान आंदोलन को कुचलने की अडाणी पेंच पावर की खूनी साजिश,(लेख). समयांतर. जुलाई, 2011. पृ.06-07.
58. गोपाल प्रधान: किसान आन्दोलन का भविष्य (लेख) : 'किसानों की भूमिका और उनका भविष्य' (सं० सूर्य नारायण). पृष्ठ 136

उपसंहार

समकालीन दौर में किसान जीवन के क्या सवाल हैं? किसान जीवन के सवालों से संबंधित सूची बहुत लंबी है. इन सवालों का आधार समाज के अंतर्विरोधों से तय होता है किसान जीवन के दो महत्वपूर्ण अंतर्विरोध हैं पहला, किसानों का आपसी अंतर्विरोध. दूसरा किसान और राजसत्ता के साथ अंतर्विरोध. किसान में जाति और वर्गों में विभाजित हैं. 'ऊंची समझी जाने वाली जातियों' के किसान 'नीची और छोटी जातियों' के किसानों का व्यापक शोषण करते हैं. इस वजह से किसानों की वर्ग-एकता खंडित होती है. सामाजिक भेदभाव के साथ 'श्रेष्ठता और हीनता' की भावना और व्यवहार को किसानों में कैसे दूर किया जाए? यह किसान जीवन के संदर्भ में महत्वपूर्ण सवाल हैं.

जमींदार, बड़े किसान और मध्यम किसान वर्ग के आधार पर विभाजित हैं. यह तीनों भूमि के घटते क्रम में मालिक होते हैं. ये छोटे किसान, भूमिहीन किसान और खेतिहर मजदूर का शोषण और उनके श्रम का उत्पीड़न करते हैं. इससे किसानों में आपसी अंतर्विरोध पैदा होता है और अपने-अपने वर्ग हित में संघर्ष छेड़ देते हैं. वैसे जमींदारों, बड़े किसानों और मध्यम किसानों की एकता सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक रूप से कमजोर किसानों को सताने है. इन तीनों के आपसी हित भी टकराते हैं और इनमें संघर्ष भी होता है. इस संघर्ष में मध्यम किसान छोटे किसानों की तरफ जाकर एकता कर लेते हैं. किसानों का सामाजिक आर्थिक संरचना की वजह से भी आपसी संघर्ष होते हैं.

प्रस्तुत शोध के पहले अध्याय में किसान जीवन की समस्याओं का ब्रिटिश राजव्यवस्था से लेकर अघतन (2010) तक अध्ययन किया है. इस अध्ययन में पाया गया कि अंग्रेजों के समय से किसान जीवन की समस्याएं आज भी निरंतर जारी है. पिछले बीस से तीस सालों में किसान जीवन में नई समस्याएं और जुड़ गयी हैं, जिससे किसान जीवन के संघर्ष और शोषण भी जटिल हो गए हैं.

अंग्रेजों के द्वारा सत्ता भारतीय पूंजीपति और सांमत वर्ग को हस्तांतरण कर देने के बाद जो कानून किसान समस्याओं को ध्यान में रखकर बनाए गए उनका क्या प्ररिणाम हुआ इसका अध्ययन करने की भी कोशिश की गयी है. यह राज्य व्यवस्था किसान जीवन से संबंधित कानून और योजना बनाने से अपना जनपक्षधर चरित्र दिखाने की कोशिश करती है. जबकि यह राज्यसत्ता का अपने वर्ग हित में एक योजना थी. इन योजना और कानूनों का लाभ जमींदारों बड़े किसानों को ही मिला.

छोटे और भूमिहीन किसान वर्ग दृष्टिकोण की चेतना के साथ संगठित होकर अपने वर्ग हित में संघर्ष करने लगे थे तब इस राज्यव्यवस्था ने उनका खुले आम दमन शोषण किया. इन गरीब उत्पीड़ित किसानों की चेतना और संघर्ष को कुंद करने के लिए राज्यव्यवस्था ने एक नीति बनायी विनोबा भावे जैसे बुद्धिजीवि के माध्यम से भूदान आंदोलन चलवाया जिसमें यह दिखाया गया कि जमींदारों के हृदय में परिवर्तन हो जायेगा और राज्य सत्ता को अपनी मर्जी से कुछ जमीन दान में दे देंगे. फिर राज्यसत्ता यह जमीन भूमिहीन किसानों में आबंटित कर देगी. ऐसी स्थिति में किसानों को 'खून खराबे वाले संघर्ष' त्यागकर राज्यसत्ता पर भरोसा करना चाहिए. यह राज्य सत्ता जमीन पर भूमिहीनों का मालिकाना हक और अन्य किसान जीवन की समस्याएं हल करने में सक्षम हैं जबकि यह राज्य व्यवस्था द्वारा किसान संघर्ष को रोकने की एक सोची समझी रणनीति थी. इसी अध्याय में हिंदी साहित्य में किसान जीवन के सवालों का भी अध्ययन किया गया है. उपन्यास और कहानी में किसान जीवन के कौन कौन से सवाल आए हैं अध्ययन से पता चलता है कि वहीं शताब्दियों पुराने सवाल के साथ कुछ एक नए सवाल भी आ रहे हैं. इन सवालों से प्रभावित किसान की पीड़ा और त्रासदी के एक हिस्से को हिंदी साहित्य में अभिव्यक्त किया है.

दूसरे अध्याय में समकालीन संदर्भ में किसान जीवन के सवालों का हिंदी पत्रिकाओं के माध्यम से अध्ययन किया गया है. भारत में लगभग बीस-पच्चीस साल पहले उदारीकरण की प्रक्रिया शुरु हुई थी, इसने भारत विशेषकर भारतीय ग्रामीण जीवन और उसकी अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव डाला है इसका अध्ययन किया गया है. ग्रामीण अर्थव्यवस्था अर्थात कृषक अर्थव्यवस्था. इस व्यवस्था में किसान अपने संपति, सम्मान, संस्कृति और जीवन यह सब कुछ खो रहे हैं. इसका फायदा देशी-विदेशी पूंजिपतियों और

उनके हित में राज्यव्यवस्था का संचालन करने वाली चंद लोगों को हो रहा है. सेज और नई आर्थिक नीतियों के संदर्भ में भी अध्ययन किया गया है.

तीसरे अध्याय में किसान आंदोलन का इतिहास और वर्तमान दोनों का अध्ययन किया है. किसान आंदोलन क्यों होते हैं? इसका सांगठनिक ढांचा और सरंचना क्या होती है इन आंदोलन और किसानों का भविष्य क्या होगा आदि प्रमुख सवालों के साथ अध्ययन करने के दौरान पाया है कि किसान की आधाराभूति जरूरतें भी राज्यव्यवस्था द्वारा पूरी नहीं की जाती. राज्यसत्ता के दमन और शोषण के बावजूद किसान अपने अधिकारों के लिए संगठित हुए और आज भी संघर्ष जारी रखे हुए हैं. किसानों की मुक्ति का सवाल सारे उत्पीड़ित समुदाय और सर्वहारा वर्ग के साथ ही मिलकर संभव होगा.

राजसत्ता और किसानों का अंतर्विरोध एक जैसा नहीं है, राजसत्ता के चरित्र से किसानों की श्रेणियों के लाभ और हानि तय होती है. राज्य सत्ता नवसाम्रराज्यवाद और नवउपनिवेशवाद के अधीन है, इसलिए बहुसंख्यक किसानों के जीवन की समस्याएं पैदा होंगी लेकिन सबसे ज्यादा नुकसान मध्यम छोटे और भूमिहीन किसानों को ही उठाना पड़ेगा. राज्यसत्ता में उपनिवेश और सांमती व्यवस्था का मिश्रण है ऐसी स्थिति में खेतिहर मजदूर, भूमिहीन और छोटे किसान देशी-विदेशी शोषकों का शोषण झेलते हैं . राज्यसत्ता में जिस पक्ष का वर्चस्व जितना मजबूत और व्यापक होगा उसी अनुसार किसानों की संख्या शोषण उत्पीड़न झेलने के लिए घटती-बढ़ती रहेगी पूंजीवादी राज्यसत्ता में देश का संपत्ति विहीन मजदूर और बुर्जुआ वर्ग के बीच संघर्ष होता है.

भारतीय व्यवस्था में किसानों की बड़ी संख्या उत्पीड़ित वर्ग में आती है. इनका शोषण, उत्पीड़न और दमन कानून और संविधान के दायरे में भी हो रहा है. उत्पीड़ित किसान के लिए ढांचागत सरंचना और कानून सम्मत होकर भी व्यवस्था कार्य करे फिर भी इनकी समस्याओं का पूरी तरह से समाधान नहीं होगा. मंहगी कृषि लागत और सस्ती कीमत पर कृषि उत्पादन की खरीददारी इस व्यवस्था की वैधानिक और नीतिगत रजांमदी है. किसानों का कृषि की आय से गुजारा नहीं हो पा रहे हैं. उनकी खेती योग्य जमीन की

छीना-झपटी राज्यसत्ता के संरक्षण में चल रही है. किसानो के शोषकों के खिलाफ कोई सुनवायी नहीं हो रही है.

इन पत्रिकाओं में मध्यवर्गीय किसान आंदोलनों का जिक्र नहीं दिखायी पड़ता है. जिसमें 'भारतीय किसान यूनियन' जैसे किसान संगठन हैं, ऐसे संगठनों द्वारा किसानों की समस्याओं पर तत्कालीक समाधान करने में जोर दिया जाता है. यह आंदोलन एकांकी दृष्टि और निजी राजनीतिक लाभ के लिए किया जाता हैं और यही इनकी राजनीतिक सीमाएं बन जाती हैं. हालांकि किसानों की यह व्यवहारिक और सीधे तौर पर दिखने वाली समस्या होने की वजह से इन पत्रिकाओं में इन सभी सवालों को रेखांकित करना चाहिए, जबकि इन समस्याओं के केवल सैद्धांतिक पक्ष को ही लेकर पत्रिकाओं में लेख छपे हैं.

किसानों की संस्कृति का भी विलोपन हो रहा है साम्रराज्यवादी और बाजारू संस्कृति किसान जीवन में लगातार घुसपैठ कर रही है. इन पत्रिकाओं ने किसान जीवन के अन्य पहलू जैसे श्रम की संस्कृति, सामाजिक और सामूहिक जीवन की जीवन्टता को बनाए रखने वाले अहम पहलू (संस्कृति किसान जीवन का अहम पहलू रहा है) को अनदेखा किया है.

किसानों में नयीं तरह की स्वास्थ्य संबंधी समस्याएं पैदा हो रही हैं. इनका कारण क्या है? और इनका समाधान कैसे होगा? गांव में स्वास्थ्य केंद्रों की संख्या बहुत कम है और जो हैं वह भी दयनीय स्थिति में हैं. इन तमाम सवालों को भी पत्रिकाओ ने उक्त दस वर्षों में नहीं उठाया हैं.

आज कृषक वर्ग की ज्वलंत सच्चाइयां कला साहित्य में सही से अभिव्यकत नहीं हो रही हैं. रचनाकार गांव से कट रहे हैं और ग्रामीण समाज के जटिल यथार्थ से दूर हो रहे हैं. यह गांव का चित्रण करते भी हैं तो पुरानी स्मृति और बाहरी दुनियां के यथार्थ और सुनी सुनाई कहानियों के आधार पर लिखते हैं. किसन जीवन की समस्याओं की जगह शहरी पाठकों को ध्यान में रखते हुए साहित्य को मनोंरजंक बनाने के लिए देह की नग्न तस्वीरों को दिखाकर आंनदित होते हैं.

प्रेमचंद ने कृषि अर्थ व्यवस्था और किसान जीवन की समस्याओं को समग्रता में उजागर किया था आज उसके आस पास भी साहित्य नहीं आ पा रहा है. जबकि गांव में कृषि और किसानों की समस्या और भी जटिल हो गयी हैं,प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में किसान आत्महत्या कर रहे हैं और बहुत से ऐसी स्थिति में पहुंच रहें हैं. कर्ज के चलते और घाटे के कृषि से लाखों होरी मजदूर बन रहे हैं और सामाजिक उत्पीड़न अलग से हैं, फिर भी साहित्य की संस्कृति से गांव गावों का पलायन जरी है.

सन्दर्भ-सूची

आधार ग्रंथ-सूची

- हंस पत्रिका (2000 से 2010) अक्षर प्रकाशन प्रा॰ लि॰ , 2/32, अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली – 110002.
- फ़िलहाल पत्रिका (2000 से 2010), नेहरु नंदा भवन, दरोगा राय पथ, पटना – 800001.
- समयांतर पत्रिका (2000 से 2010), 79-ए, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-110095.

सहायक ग्रंथ-सूची

(क) हिन्दी ग्रंथ

- जी. एल. भल्ला : [अनुवाद : रजनीश कुमार]. भारतीय कृषि आजादी के बाद. नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया नेहरु भवन, 5 इंस्टीट्यूसनल एरिया, फेज-11, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070. वर्ष 2010.
- पी. साईनाथ: [अनुवादक : आनंद स्वरुप वर्मा]. तीसरी फसल (भारत के निर्धनतम जिलों की दास्तान). आइडियाज एण्ड इम्प्रेशंस, एल 5 ए, शोख सराय फेज-II, नई दिल्ली – 110017. वर्ष 2003.
- पूरनचंद जोशी: भारत में भूमि सुधार अध्ययनों का सर्वेक्षण. ग्रंथशिल्पी (इंडिया) प्रा॰ लि॰, बी-7, सरस्वती कामप्लेक्स, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली – 110019. वर्ष 2012.
- एंगेल्स: परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति. पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस प्रा॰ लि॰, 5 ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली – 110055. जुलाई 2010.
- माओ॰ त्से॰ तुंग: माओ॰ त्से॰ तुंग की रचनाएँ, प्रतिनिधि चयन. राहुल फाउंडेशन, डी-68, निरालानगर, लखनऊ- 226020. जनवरी 2004.

- प्रधान हरिशंकर प्रसाद: खेतिहर समाज (खण्ड I). फ़िलहाल ट्रस्ट, एस- 46/2, कृष्ण नगर, पटना- 80001. वर्ष 2006.
- हरबंस मुखिया [संपादक]: फ्यूडलिज्म और गैरयूरोपिय समाज. ग्रंथशिल्पी (इंडिया) प्रा॰ लि॰, अनुवादक : आदित्य नारायण, दयानंद मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली – 110002. वर्ष 1998.
- अवधेश प्रधान [संपादक]: किसान और संयुक्त मोर्चा. ग्रंथशिल्पी (इंडिया) प्रा॰ लि॰, दयानंद मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली – 110002. वर्ष 2002.
- रोडनीय हिल्टन [संपा.]: [अनुवादक : प्रदीप कान्त चौधरी]. सामंतवाद से पूँजीवाद में संक्रमण. ग्रंथशिल्पी, सरस्वती कॉम्प्लेक्स, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली. वर्ष 2007.
- प्रो॰ रामबक्स : प्रेमचंद और भारतीय किसान: वाणी प्रकाशन, 4995, 21- ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, 1982.
- व्ला ० इ ० लेनिन : राज्य और क्रांति, राज्य के संदर्भ मे मार्क्सवाद की शिक्षा और क्रांति में सर्वहारा वर्ग के कार्यभार, पीपल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा॰) लिमिटेड, अक्टूबर 2010 . (प्रथम संस्करण हिन्दी)
- सूर्यभान राय (संपा.) : स्वाधीनता आन्दोलन में किसानों की भूमिका और उनका भविष्य, स्वामी सहजानंद विचार मंच जे. एन. यु और अमर शहीद डा॰ शिवपूजन राय प्रतिष्ठान, दिल्ली के संयुक्त तत्वावधान में प्रकाशित.
- रामशरण जोशी (संपा.) : समकालीन सरोकार, वैश्वीकरण के दोर में. समयांतर प्रकाशन, 79-ए दिलशाद गार्डन, दिल्ली-110095, 2006.
- श्यामचरण दुबे (अनुवाद- वंदना मिश्र) : भारतीय समाज. नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नेहरु भवन, 5 इंस्टीट्युशनल एरिया, फेज- II, वसंत कुंज. नई- दिल्ली- 110070. 2005.
- माओ॰ त्से॰ तुंग॰ : माओ॰ त्से॰ तुंग की रचनाएँ, प्रतिनिधि चयन, एक खंड में. राहुल फाउंडेशन, डी-68, निरालानगर, लखनऊ- 226020. जनवरी, 2004.
- पुष्पराज : नंदीग्राम डायरी. पेंगुइन बुक्स इंडिया,यात्रा बुक्स:- 203, आशादीप, 9 हेली रोड, नई दिल्ली – 110001. 2009.

- स्वामी सहजानंद सरस्वती : किसान कैसे लड़ते हैं ? श्याम विहारी राय द्वारा ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया), प्राइवेट लिमिटेड बी-7, सरस्वती काम्प्लेक्स, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-110092. 2010.
- डा॰ महेंद्र प्रताप: उत्तर प्रदेश में किसान आन्दोलन. वाणी प्रकाशन, 4697/5, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-10002. 1998.
- कार्ल मार्क्स, फडरिक एंगेल्स: कम्युनिष्ट पार्टी का घोषणापत्र. राहुल फाउंडेशन, 69, बाबा का पुरवा, पपेरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ- 226006. मार्च,1999.
- रामाज्ञा शाशिधर : किसान आन्दोलन की साहित्यिक जमीन. अंतिका प्रकाशन सी-56/ यूजी एफ- IV, शालीमार गार्डन, एक्सटेंशन-11, गाजियाबाद-201005, उ॰प्र॰. 2012.
- डा॰ विजय कुमार: आधुनिक भारतीय इतिहास के सहितित्यक स्रोत एक अध्ययन. काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना संग्रहालय भवन, बुद्ध मार्ग, पटना- 800001. 2003.
- पी. सांईनाथ (अनुवाद- आनंद स्वरूप वर्मा): तीसरी फसल, भारत के निर्धनतम जिलों की दास्तान, तीसरी दुनिया, Q – 63, सेक्टर 12, नोएडा – 20130. [प्रथम हिन्दी संस्करण] 2003.
- एजाज अहमद (अनुवाद- मनोज झा): किनकी सदी, किनकी सहस्राब्दी ? मौजूदा समय पर विचार विमर्श. संवाद प्रकशन आई- 499, शास्त्री नगर, मेरठ – 250004, उ॰प्र॰. (पहला संस्करण) 2008.
- रामधारी सिंह दिवाकर: अकाल संध्या भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्युशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली – 110003. (पहला संस्करण) 2006.
- भीमसेन त्यागी: जमीन [उपन्यास]. भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्युशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली – 110003. (पहला संस्करण) 2003.
- नामवर सिंह: कहानी: नई कहानी. लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, एम. जी. रोड, इलाहबाद -1. 2008.
- बनाफर चन्द्र: ज़मीन [उपन्यास]. यात्री प्रकाशन, सादतपुर, दिल्ली-110094. 2004.

- विजयमोहन सिंह: बीसवीं शतांब्दी का हिन्दी साहित्य. राजकमल प्रकाशन प्रा॰ लि॰, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली – 110002. (पहला छात्र संस्करण) 2010.

- मधुरेश: हिन्दी उपन्यास का विकास. सुमिट प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद – 1. (चौथा संस्करण) 2008.

- रामरश मिश्र: हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा. राजकमल प्रकाशन प्रा॰ लि॰, 1- बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली – 110002. [तीसरी आवृति] 2012.

- रामस्वरूप चतुर्वेदी: हिन्दी काव्य का इतिहास (कबीर से रघुवीर) लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, , दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद – 211001. 2007.

- रामविलास शर्मा: महावीर प्रसाद दिवेदी और हिन्दी नवजागरण. राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. 8, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली – 110002. 1977.

- एल. नटराजन: भारत के किसान विद्रोह (1850-1900). स्वर्ण जयन्ती 1/ 5971, कबूल नगर, शाहदरा, दिल्ली- 110032. 1999.

- चारू मजूमदार: संग्रहित रचनाएं (1962- 72). समकालीन प्रकाशन, आजाद- मार्केट, पीरमुहानी, पटना- 800003. (दितीय संस्करण) जुलाई, 2001.

- डा॰ बच्चन सिंह: आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास. लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी, इलहाबाद – 1. 2010.

- व्ला ० इ ० लेनिन: एक कदम आगे, दो कदम पीछे. पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा॰) लिमिटेड, रानी झंसी रोड, नई दिल्ली – 110055. अक्टूबर, 2011.

- सैयद नजमुल रज़ा रिजवी: अठारहवीं सदी के जमींदार. पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 5 ई, रानी झंसी रोड, नई दिल्ली. 1988.

- गोपाल राय: हिन्दी उपन्यास का इतिहास. राजकमल प्रकाशन प्रा॰ लि॰, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली – 110002. 2005.

- गोपाल राय: हिन्दी कहानी का इतिहास. राजकमल प्रकाशन प्रा॰ लि॰, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली – 110002. 2011.

- रामस्वरूप चतुर्वेदी: हिन्दी गद्य विन्यास और विकास. लोकभारती प्रकाशन दरबारी बिल्डिंग, एम. जी. रोड, इलाहबाद-1.

(ख) पत्र-पत्रिकाएँ

- कथादेश मासिक [मई, 2012] : हरिनारायण (संपादक). सहयात्रा प्रकाशन प्रा॰ लि॰, एल- 57 बी. पॉकेट-एल. दिलशाद गार्डन, दिल्ली
- इस्पातिका अर्द्धवार्षिक [जनवरी से जून, 2014] : अविनाश कुमार सिंह (संपादक). 3- न्यू स्टाँफ क्वार्टर्स, को-ऑपरेटिव काँलेज परिसर, सी. एच. एरिया, विस्टुपुर, जमशेदपुर, झारखण्ड-831001.

(ग) अंग्रेजी ग्रन्थ

- Edited by Usha Patnaik: The Agrarian Question In Marx And His Successors, Volume-I, Published in 2002, Left World Book, 12 Rajendra Prasad Road, New Delhi.

परिशिष्ट

समयांतर पत्रिका (2000-10) में प्रकाशित नई आर्थिक नीतियों से सम्बंधित कुछ महत्त्वपूर्ण लेख

(परिशिष्ट 1)

क्रमांक	लेखक/रचनाकार	लेख/रचनाएँ	पत्रिका	माह	वर्ष
1.	पाण्डेय, ब्रज बिहारी	नई आर्थिक नीति के दस वर्ष	समयांतर	अक्टूबर	2001
2.	केशव, कृष्ण	आर्थिक उदारीकरण का पंजा	समयांतर	जनवरी	2005
3.	पटनायक, उत्सा	कृषि: गहराता संकट	समयांतर	सितम्बर	2005
4.	सिंह, वैभव	माल्स और वॉलमार्ट	समयांतर	अगस्त	2007
5.	विश्वास, पलाश	चाय बागानों में भुखमरी	समयांतर	जुलाई	2007
6.	भादुड़ी, अमित	विकास या विकास का आतंक	समयांतर	मार्च	2010

समयांतर पत्रिका (2000-10) में **कर्ज/ऋण** से सम्बंधित कुछ महत्त्वपूर्ण लेख

(परिशिष्ट 2)

क्रमांक	लेखक/रचनाकार	लेख/रचनाएँ	पत्रिका	माह	वर्ष
1.	रवि, के	भूख और राजनीति का खेल	समयांतर	नवम्बर	2001

2.	सिंह, कृष्ण	भूख: बढ़ता साया	समयांतर	नवम्बर	2001
3.	साईनाथ, पी	जनता के यथार्थ से दूर	समयांतर	नवम्बर	2001
4.	चौधरी, प्रकाश	भूखमरी बनाम भरे गोदाम	समयांतर	मार्च	2004
5.	पटनायक, उत्सा	कृषि: गहराता संकट	समयांतर	सितम्बर	2005

फ़िलहाल पत्रिका (2000-10) में कृषि उत्पादन के संबंधों पर महत्वपूर्ण लेख

(परिशिष्ट 3)

क्रमां.	लेखक/रचनाकार	लेख/रचनाएँ	पत्रिका	माह	वर्ष
1.	राव, आर.एस	एक अर्ध सामन्ती अर्ध औपनिवेशिक समाज में आमूल परिवर्तन के आन्दोलन	फ़िलहाल	जनवरी	2001
2.	धर्मवीर	हरियाणा में हरित क्रांति	फ़िलहाल	नवम्बर	2004
3.	सुरेन्द्र प्रताप /आरजी त्यागी	कहाँ खड़ा है खेतिहर समाज	फ़िलहाल	फ़रवरी	2005
4.	सुखदेव	भूमि वितरण एक प्रतिक्रियावादीमांग है	फ़िलहाल	अप्रैल	2005
5.	दिवाकर	हरियाणा में अर्ध सामन्ती सम्बन्धों के बारे में कुछ और	फ़िलहाल	नवम्बर	2005

समयांतर और फ़िलहाल पत्रिकाओं (2000-10) **में किसान आन्दोलन** से सम्बंधित कुछ महत्त्वपूर्ण लेख

(परिशिष्ट 4)

क्रमांक	लेखक/रचनाकार	लेख/रचनाएँ	पत्रिका	माह	वर्ष
1.	वाजपेई, पुण्य प्रसून	भूमि संघर्ष और नरसंहार	समयांतर	जुलाई	2001

2.	केयसी	भूमि सुधर की अहमियत	समयांतर	मार्च	2002
3.	बनर्जी, सुमंत	नक्सलबाड़ी अनथक विद्रोह	समयांतर	फरवरी	2008
4.	शशिधर, रामाज्ञा राय	नीमड़ा से नंदीग्राम तक :सृजन का प्रतिरोध	समयांतर	फरवरी	2008
5.	सुनील	नंदीग्राम का अर्थ :एक वर्ष बाद	समयांतर	मार्च	2008
6.	कृपाशंकर	फिर छले गए किसान	समयांतर	मार्च-अप्रैल	2008
7.	हल्दर, प्रशांत	पास्को प्रतिरोध से लौटकर	फ़िलहाल	मार्च-अप्रैल	2008
8.	शर्मा, प्रेमपाल	उदारीकरण की तानाशाही	समयांतर	जून	2009
9.	केशरी,मदन	जंगल की टूटती चुप्पी	फ़िलहाल	सितम्बर	2009
10.	पटेल, सत्यनारायण	यह टूट पड़ने का वक्त है	फ़िलहाल	सितम्बर	2009
11.	शांडिल्य, मनीष	जमीन जब पाक रही थी	फ़िलहाल	सितम्बर	2009
12.	श्रीवास्तव, अभिषेक	पूँजी के राज मरण तेलंगाना का सच	फ़िलहाल	जनवरी	2010
13.	अनंत, रामप्रकाश	अंधे विरोध का बेसुरा राग	फ़िलहाल	जनवरी-फरवरी	2010
14.	रजनीश	संकट में खेती किसानी	समयांतर	जनवरी-फरवरी	2010
15.	भार्गव, प्रमोद	भूख से भयभीत देश	समयांतर	मार्च	2010
16.	साईनाथ, पी	किसानों की आत्महत्या:बारह साल लम्बी दारुण कथा	फ़िलहाल	मार्च	2010

हंस पत्रिका (2000-10) में प्रकाशित किसान जीवन से सम्बंधित कुछ महत्त्वपूर्ण कहानियां

(परिशिष्ट 5)

1.	वाल्मीकि	कूड़ाघर	हंस	नवम्बर	2000
2.	स्वदेश, दीपक	गन्नेवाला	हंस	नवम्बर	2002
3.	सिंह, पुन्नी	मंसाबढ़ई	हंस	फ़रवरी	2003
4.	प्रियंबद	दर्शक	हंस	मार्च	2004
5.	सिंह, ललन प्रसाद	सिलसिला	हंस	अप्रैल	2004
6.	भट्ट, कुसुम	बाघिन	हंस	दिसम्बर	2006
7.	तिवारी, रंजन	लाल ख़त	हंस	दिसम्बर	2006
8.	विजय	कंकाल	हंस	फरवरी	2007
9.	भगत, कृष्ण कुमार	सजा	हंस	अप्रैल	2008
10.	अनिल, विजेंद्र	माल मवेशी	हंस	मार्च	2008
11.	संजीव	मौसम	हंस	अप्रैल	2008
12.	मदार, एन.हनीफ़	अब और नहीं	हंस	जून	2009
13.	यादव, अरुण	जड़ जमीन	हंस	सितम्बर	2009
14.	सिंह, पुन्नी	पंचनामा	हंस	मार्च	2010
15.	प्रकाश, हरि	वापसी	हंस	अगस्त	2010
16.	जाफ़री, मेंहदी जाफ़र	हयाती कब्रें	हंस	सितम्बर	2010